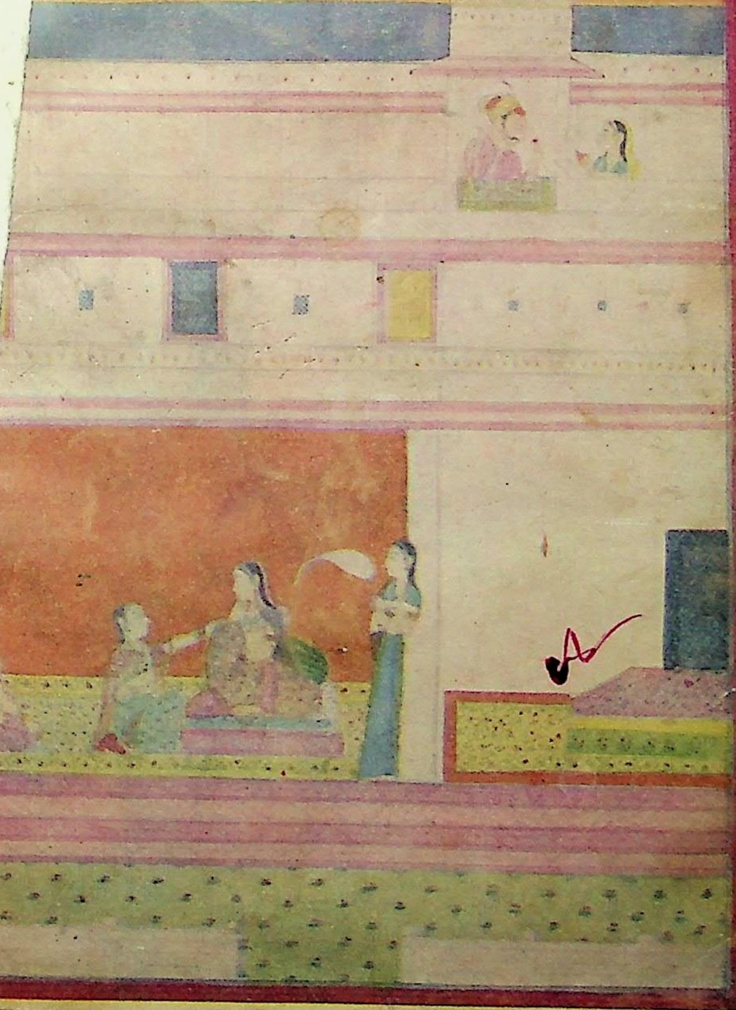
863

Manas

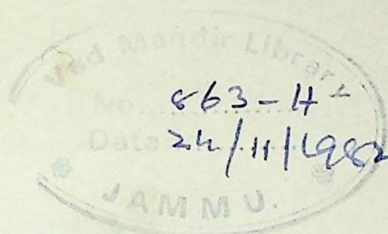
Darpan

ि: चौपई: पद मंजरि मोधजीय किन्हा लालिच लालु सांवरस भीन्हा सुमिरि
जकढि: नीचि वदन मौन मुनगाढी वर्षहि नैनन्ह पदितथाती: जनुटुटै मोती
कहिहित वचन सुनावा: बहुत भांतिका तौ मिमनावै: मनौ मानन्नी घुस्वैन हमारी
आतुर प्रियप्यारी: दोहा: अन्नखवत्व मिसवाचनै: कहो नमिष्ठावैण: यो
कितरैतहो: द्रुतिकरकुंसिरिन्हैन: ॥५॥





Rs 12.00



मानस-दर्पण

(१)

(सीता यानी भक्ति का अन्वेषण)

मूर्धन्य मानस-मर्मज्ञ

श्री पं० रामकिंकर उपाध्याय

के

प्रवचनों का संकलन

प्रकाशक

संगीत कला मन्दिर ट्रस्ट

४८, शेक्सपीयर सरणी

कलकत्ता-७०००१७

प्रकाशक :

संगीत कला मन्दिर ट्रष्ट

४८, शेक्सपीयर सरणी

कलकत्ता-७०००१७

मूल्य—बारह रुपये

प्रथम आवृत्ति :

१ जनवरी १९८२

मुद्रक :

एसकेज

८, शोभाराम वैशाख स्ट्रीट

कलकत्ता-७०

© रामकिंकर उपाध्याय

श्री रामः शरणं मम

863-H
Date 24/11/198
JAMMU

प्राक्कथन

विश्व-साहित्य, धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म का महामहिमामय महाकाव्य तुलसीकृत रामचरितमानस विगत ४०० वर्षों से 'बुध' एवं 'जन' के मानस को समान रूप से प्रेरित एवं प्रभावित करता आ रहा है। राम-कथा के विभिन्न चरित्रों एवं घटनाक्रमों के आधार पर प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजी ने विश्व के समस्त धर्मों के सूत्र-संकेत, लोक-व्यवहार एवं चारित्रिक आदर्श का बड़ा ही बोधगम्य एवं हृदयग्राही निरूपण किया है जो उत्कृष्ट जीवन के लिये सर्वथा उपयोगी एवं श्रेयस्कर है। मानस की साहित्यिक छटा तो अनुपम है।

नित्यप्रति पाठ के अतिरिक्त हमारे देश में राम की चरित्र-कथा, रामलीला, रामचरितमानस के गायन एवं प्रवचन की प्रथा शताब्दियों से चली आ रही है। रामचरितमानस की अनेक टीकाएं प्रकाशित हैं, विवेचन एवं शोध कार्य होते रहते हैं। प्रवचन के क्षेत्र में अनेक सन्त एवं विद्वान हुए हैं और हैं। संगीत कला मन्दिर ने समय समय पर अनेक विद्वानों के प्रवचन के आयोजन किये हैं। वर्तमान युग के लिये तुलसीकृत रामचरित-मानस के प्रकाण्ड मर्मज्ञ पं० रामकिंकरजी उपाध्याय का अवतरण देश के लिये अत्यन्त उत्कृष्ट वरदान है। विगत २३ वर्षों से अनवरत जनवरी मास के प्रथम सप्ताह में नौदिवसीय प्रवचन के लिये श्री पंडितजी हमारे निमन्त्रण पर पधारते हैं और सर्वसाधारण को लाभान्वित करते रहे हैं।

श्रद्धेय पंडितजी द्वारा मानस पर विवेचन की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। प्रवचनों में प्रसारित आपके प्रसादपूर्ण विचारों एवं शैली को अक्षुण्ण रखने के लिये लिपिवद्ध कर प्रकाशन का विचार कई वर्षों से हो रहा था। सन् १९८० में प्रवचन का प्रसंग था 'सीता यानी भक्ति का अन्वेषण' जिसका प्रकाशन मानस-दर्पण के रूप में इस वर्ष सम्भव हो सका है। हमारी अभिलाषा है कि संगीत कला मन्दिर ट्रष्ट द्वारा आयोजित प्रवचनों की यह शृंखला मानस-दर्पण के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होती रहे।

कला मन्दिर
४८, शेक्सपीयर सरणी
कलकत्ता-७०००१७

रमणलाल बिन्नानी
अवै० मंत्री
संगीत कला मन्दिर ट्रष्ट

दिनांक १ जनवरी १९८२

श्री रामः शरणं मम

अपनी बात

कलकत्ते की सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक संस्था "संगीत कला मन्दिर" की ओर से पिछले तेइस वर्षों से मानस प्रवचन के रूप में ज्ञान-यज्ञ का जो आयोजन होता रहा है वह कई दृष्टियों से अप्रतिम होता है। ज्ञान वितरण की इस प्रक्रिया में स्वयं को निमित्त रूप में पाकर मैं अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करता हूँ।

इस वर्ष आयोजन के समारम्भ में प्रवचन के पुस्तकाकार प्रकाशन की योजना भी प्रारम्भ की जा रही है। इसके मूल प्रेरक हैं श्री बसन्तकुमारजी बिरला। बिरला दम्पति (श्रीमती सरला बिरला और श्री बसन्तकुमारजी बिरला) की ओर से देहली में आयोजित कार्यक्रमों में दिए गए प्रवचनों का प्रकाशन पहले ही प्रारम्भ हो चुका है। इस तरह देश के दो महानगरों में दिए जाने वाले वार्षिक प्रवचन उन लोगों को भी सुलभ हो सकेंगे जो उनमें सम्मिलित होने में असमर्थ हैं। इसका सारा श्रेय बिरला दम्पति की महती श्रद्धा को है।

सत्य तो यह है कि प्रवचन प्रकाशन की इस योजना को लेकर मेरे मन में कुछ द्विविधा थी, कुछ प्रश्न थे। श्री रमणलालजी बिन्नानी द्वारा प्रेषित योजना पत्र के उत्तर में मैंने इन प्रश्नों को उठाने की चेष्टा की थी। एक आशङ्का मेरे मन में पुनरुक्तियों को लेकर थी। प्रवचन में प्रतिवर्ष कितनी भी नूतनता क्यों न हो उसमें पुनरुक्ति भी अवश्य होती है। पुस्तकाकार प्रकाशन में उनका बार-बार आना अवश्यम्भावी है। "क्या यह बात पाठक को खटकेगी नहीं ?" यह आशङ्का मेरे मन में थी। इसके उत्तर में श्रीमती सरलाजी का जो उत्तर आया उससे मैं निरुत्तर हो गया। उनका कहना यह था कि पुनरुक्ति तो पुराणों में भी, गीता में भी विद्यमान है। मुझे विश्वास है कि पाठक इसे "शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिए" के रूप में लेकर यत्किञ्चित पुनरुक्ति में भी रस लेगें।

प्रवचन और उसके प्रकाशन के माध्यम से प्रभु जो सेवा मुझसे ले रहे हैं मैं उसमें धन्यता का अनुभव कर रहा हूँ। इससे भगवत्चरित्र की जिस असीमता का बोध होता है वह परोक्ष न होकर अनुभूतिजन्य है। इसलिए मानस की परम्परा के अनुसार मैं सर्वप्रथम स्वयं को ही धन्यवाद देता हुआ कागभुशुण्डिजी के वाक्यों को उद्धृत करता हूँ।

आजु धन्य मैं धन्य अति यद्यपि सब बिधि हीन।
निज जन जानि राम मोहिं सन्त समागम दीन्ह ॥

इसके सम्पादन का श्रमसाध्य कार्य मेरे प्रिय शिष्य उमाशङ्कर शर्मा के द्वारा सम्पन्न हुआ। प्रवचन की पाण्डुलिपि जिस रूप में आई थी उसे देख कर मुझे अत्यन्त निराशा हुई थी। प्रश्न केवल इसके सम्पादन का न होकर उसके पुनर्लेखन जैसा था। इस कठिन कार्य को उमाशङ्कर शर्मा ने पूरी निष्ठा और लगन के साथ पूरा किया।

इसी तरह संशोधित प्रति के पुनर्लेखन के कार्य को शीघ्रता से पूरा करने में कई स्नेहियों का भाग है। विष्णुकान्त पाण्डेय, श्रीकान्त पाण्डेय और कुमारी रजनी पाण्डेय का इसमें सर्वाधिक भाग है। साथ ही श्रीमती सावित्री शर्मा, श्री मैथिलीशरण शर्मा (श्री सुरेश शर्मा) श्री जगदीशगुप्त के सम्मिलित सहयोग से यह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ। इन सबको मेरा हार्दिक आशीर्वाद। इस सन्दर्भ में मुझे स्वर्गीय श्री ठाकुरप्रसादजी अग्निहोत्री का स्मरण करते हुए एक अभाव की अनुभूति हो रही है। इस यज्ञ में उनकी आहुतियाँ बड़े महत्त्व की थीं।

संगीत कला मन्दिर ट्रष्ट की ओर से जब से प्रवचन माला का आयोजन प्रारम्भ हुआ है, उसके निर्देशन का सारा भार श्री रमणलालजी बिन्नानी पर रहा है। उनकी भावभीनी श्रद्धा से यह आयोजन रसमय होता रहा है। इसके प्रकाशन का कार्य भी उन्हें सौंपा जाना स्वाभाविक था। मैं इस दिशा में भी उनकी सफलता की शुभकामना करता हूँ।

रामकिंकर उपाध्याय

१-१-१९८२

अनुक्रमणिका

श्री रामः शरणं मम

प्रथम प्रवचन

जनक सुता कइ सुधि भामिनी।
जानहि कहु करिवरगामिनी॥
पंपा सरहि जाहु रघुराई।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा।
जानतहूँ पूछहु मतिधीरा॥
बार बार प्रभु पद सिरु नाई।
प्रेम सहित सब कथा सुनाई।

कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदयँ पद पंकज धरे।
तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे॥
नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू॥
जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्हि असि नारि।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि॥ ३।३६

भगवान श्री राघवेन्द्र की असीम अनुकम्पा से इस वर्ष पुनः यह शुअवसर प्राप्त हुआ है कि "संगीत कला मन्दिर ट्रस्ट' के द्वारा आयोजित इस प्रवचन सत्र में कुछ भगवच्चर्चा की जा सके। पिछले बाईस वर्षों से यह परम्परा अनवरत चलती रही है, यह प्रभु की महान अनुकम्पा तथा आप सब लोगों के स्नेह का ही परिणाम है।

जैसा कि अध्यक्ष महोदय ने अभी आप लोगों के समक्ष संकेत किया कि विषय के रूप में भगवती श्री सीता के अन्वेषण का प्रसंग चुना गया है। इस प्रसंग के माध्यम से जनकनन्दिनी के अन्वेषण की गाथा, तथा उसका हम सबके जीवन से जो बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, उस पर हम कुछ विचार करेंगे। अभी आपके सामने जो पंक्तियाँ पढ़ी गईं, वे भक्तिमती शबरी तथा भगवान श्री राम के मध्य हुए वार्तालाप के प्रसंग की हैं।

दण्डकारण्य में रावण के द्वारा श्री सीताजी चुरा ली गई हैं और विदेहनन्दिनी की खोज में प्रभु दण्डकारण्य से आगे की ओर बढ़ रहे हैं। इस यात्रा क्रम में वे शबरी के आश्रम में जाते हैं, तथा उनके समक्ष नवधा भक्ति का उपदेश देने के बाद प्रभु उनसे एक अनोखा प्रश्न करते हुए दिखाई देते हैं। भगवान श्री राम ने शबरी जी से पूछा कि "हे भामिनी, हे करिवर गामिनी आप कृपा करके यह बतावें कि आपको जनकनन्दिनी का कोई समाचार ज्ञात है क्या—तथा श्री सीताजी को पाने का कौन सा मार्ग है इसका भी आप मुझे संकेत दें? प्रभु का प्रश्न सुनकर शबरीजी संकोच में गड़ जाती हैं। किन्तु भगवान श्री राघवेन्द्र के अनुरोध पर वे उनसे कहती हैं, कि आप तो सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी हैं, आप सब कुछ जानते हैं, फिर भी यदि आपने मुझसे प्रश्न किया है तो मैं आपसे अनुरोध करूँगी कि आप पंपासर की यात्रा करें, और उस यात्रा में आपकी सुग्रीव से मित्रता होगी, तथा उसके पश्चात विदेहनन्दिनी की खोज का मार्ग प्रशस्त होगा। शबरीजी के अनुरोध को स्वीकार करके प्रभु पंपासर की यात्रा करते हैं। वहाँ पर सुग्रीव से मित्रता होने के पश्चात विदेहनन्दिनी के अन्वेषण का जो क्रम प्रारम्भ होता है उसका बड़ा विस्तृत वर्णन श्री रामचरित मानस में आप पढ़ते हैं। सारे बन्दर दशों दिशाओं में सीताजी को खोजने के लिए भेजे जाते हैं। इन बन्दरों में जो सर्वश्रेष्ठ योग्य तथा बुद्धिमान योद्धा थे, वे दक्षिण दिशा की ओर भेजे गये और अन्त में सभी बन्दर समुद्र के किनारे रुक जाते हैं, किन्तु उनमें से एक मात्र हनुमानजी ही ऐसे हैं जो उस विशाल समुद्र को पार करने के पश्चात अशोक वाटिका में जाकर जनकनन्दिनी के चरणों का साक्षात्कार करते हैं। और श्री सीताजी के समक्ष पहुँच कर हनुमानजी अपने अन्तःकरण में ऐसी विलक्षण तृप्ति का अनुभव करते हैं जिसके लिए उन्होंने एक बड़ा अनोखा सा वाक्य कहा। हनुमानजी ने श्री सीताजी से निवेदन करते हुए कहा कि :—

"अब कृतकृत्य भयउ मैं माता" ५।१६।६

माँ ! **अब मैं कृतकृत्य हो गया।** यह बात तो ऐसे वड़ी अटपटी सी प्रतीत होती है, क्योंकि शास्त्रों की मान्यता तो यह है कि ईश्वर का साक्षात्कार करने के बाद जीवन में पूर्णता आ जाती है और हनुमानजी ने तो भगवान श्री राम का साक्षात्कार कर ही लिया था। किन्तु श्री सीताजी का आशीर्वाद पाने के बाद ही हनुमानजी के मुख से यह वाक्य निकलता है कि **"अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता"।** इस तरह इस प्रसंग का समापन होता है श्री हनुमानजी की कृतकृत्यता से।

इस प्रसंग के अन्तराल में क्या तात्पर्य है, आइये थोड़ा सा इस पर भी विचार करें। ऐतिहासिक दृष्टि से तो यह त्रेता युग की एक ऐसी घटना है जिसमें भगवान श्रीराम, श्री हनुमानजी के आश्रय से विदेहनन्दिनी का पता लगाते हैं। किन्तु श्री रामचरितमानस की यह विशेषता है कि साधारण इतिहास में जो बात नहीं पायी जाती है उसका निरूपण इसमें बड़े अनोखे ढंग से किया जाता है। साधारण इतिहास की तुलना हम कर सकते हैं एक कलाकार के द्वारा निर्मित चित्र से। जब किसी चित्रकार के द्वारा बनाया हुआ प्राचीन काल का कोई चित्र आपकी आँखों के सामने आता है, तब उस कलाकार की तूलिका का चमत्कार देखकर आप आश्चर्यचकित हो जाते हैं। यद्यपि उस समय आप वर्तमान में होते हैं, किन्तु फिर भी जिस काल का वह चित्र होता है वह युग कलाकार की तूलिका के माध्यम से आपके सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार साधारण इतिहास की तुलना हम एक ऐसे शब्द-चित्र से कर सकते हैं, जहाँ पर चतुर इतिहासकार के द्वारा प्राचीन काल का ऐसा चित्र अंकित किया जाता है, कि जिसके माध्यम से भूतकाल हमारी आँखों के सामने प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है। लेकिन रामचरितमानस केवल इतिहास ही नहीं है, अपितु यह तो गोस्वामीजी के द्वारा निर्मित वह महान शब्द चित्र है जिसमें त्रेता युग साकार हो रहा है, त्रेता युग के पात्र साकार हो रहे हैं। पर रामचरितमानस केवल चित्र ही नहीं अपितु यह चित्र के साथ-साथ कुछ और भी तो है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम इसकी तुलना करेंगे चित्र तथा दर्पण से। आप इन दोनों में जो अन्तर पाते हैं वही अन्तर रामचरितमानस तथा साधारण इतिहास में है। चित्र तो भूतकाल को हमारे सामने प्रत्यक्ष कर देता है, किन्तु जब हम दर्पण के सामने खड़े होते हैं तो वह हमारे वर्तमान को प्रत्यक्ष रूप से हमें दिखाता है। इसका अभिप्राय है कि चित्र यदि भूतकाल का सत्य दिखाता है तो दर्पण हमें वर्तमान के सत्य का साक्षात्कार कराता है। किन्तु यदि रामचरितमानस की रचना पर विचार करके देखें कि यह चित्र है, अथवा दर्पण ? तब हमें बड़ा अनोखा सा अनुभव यह होता है कि

रामचरितमानस केवल भूतकाल का ही चित्र नहीं है अपितु वर्तमान काल का दर्पण भी है। दर्पण की यह विशेषता है कि जो व्यक्ति उसके सामने खड़ा होता है वह उसी के वर्तमान को साकार कर देता है। इसीलिए गोस्वामीजी ने चित्र की तुलना में भी दर्पण के तथ्य पर अधिक बल दिया है। यद्यपि वे कभी-क़भी यह भी कहते हैं कि **"रामचरितमानस एक इतिहास है।**

"सुनहु परम पुनीत इतिहासा"। ७।५४।८

पर इतिहास के साथ गोस्वामीजी एक सांकेतिक सूत्र देते हुए कहते हैं कि विदेहनन्दिनी के अन्वेषण का जो सत्य है वह केवल त्रेतायुग का ही नहीं, अपितु वर्तमान युग का भी परम सत्य है। जो व्यक्ति यदि ध्यान से इस दर्पण में देखने की चेष्टा करेगा उसे प्रत्यक्ष रूप से इसमें अपना वर्तमान जीवन ही साक्षात् दिखाई देगा। इस प्रकार एक ओर तो रामचरितमानस के जो ऐतिहासिक पात्र हैं, गोस्वामीजी उनका चित्र अंकित करते हैं, पर उसके साथ-साथ वे दो वस्तुओं पर अत्यधिक बल देते हैं, तथा उन्हीं दोनों वस्तुओं से हमारा आपका बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। वे दोनों वस्तुएँ कौन-सी हैं, आइये जरा उन पर भी विचार करें। जब वे यह आग्रह करते हैं कि भगवान राम को देखने के लिये किस वस्तु की आवश्यकता है तब उन्होंने एक बड़ी अद्‌भुत बात कही। वैसे साधारणतया नियम यह है कि जब हम किसी व्यक्ति को देखना चाहते हैं तब हमें दृष्टि की आवश्यकता पर बल देते तो कोई अनौचित्य नहीं होता। कबीर से पूछा गया कि ईश्वर दिखाई क्यों नहीं देता है ? तो उन्होंने उत्तर दिया कि :—

"जिन आँखिन सो वाको लखिए सो तो गयी हैं मुदाय।
कैसे राम रूप लखिजाय"।

जिन नेत्रों से ईश्वर दिखाई देता है वे तो मुदी हुई हैं, इसीलिये ईश्वर हमें नहीं दिखाई दे रहा है। लेकिन श्री रामचरितमानस में जब पार्वतीजी ने भगवान शंकर से यही प्रश्न किया कि ईश्वर व्यक्ति को दिखाई क्यों नहीं देता, तो भगवान शंकर ने उत्तर देते हुए कहा कि श्रीराम को देखने के लिये आँखें तो चाहिये ही पर इसके साथ-साथ वे एक अन्य वस्तु की आवश्यकता पर भी जोर देते हैं। और उसका संकेत करते हुये भगवान शंकर रामचरितमानस के प्रारम्भ में कहते हैं कि—

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना।
राम रूप देखहिं किमि दीना॥ १।११४।४

उन्होंने कहा कि जिन बेचारों का दर्पण मलिन है, तथा जिनके पास नेत्र का अभाव है, वे भगवान का साक्षात्कार कैसे करेंगे? गोस्वामीजी का अभिप्राय यह है कि श्री रामचरितमानस में उन्होंने जिन भगवान राम का वर्णन किया है उनका साक्षात्कार करने के लिये केवल दृष्टि ही नहीं अपितु उसके साथ-साथ दर्पण भी परमावश्यक है। दृष्टि के साथ यह दर्पण के प्रति जो महत्व बुद्धि है उसके द्वारा एक अत्यन्त गंभीर संकेत हमें और भी प्राप्त होता है। बालकाण्ड की रचना जब गोस्वामीजी प्रारम्भ करते हैं तब वे अपने गुरुदेव की चरण धूलि की वन्दना करते हुये कहते हैं कि गुरुदेव की चरण धूलि तो आँखों के लिये अंजन के समान है, जिससे नेत्रों का दोष मिट जाता है।

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥
तेहिं करि बिमल बिबेक बिलोचन।
बरनउँ राम चरित भव मोचन॥ १।१।२

गोस्वामीजी ने कहा कि गुरुदेव की चरण रज की कृपा से जब मेरे नेत्रों के दोषों का विनाश हो गया, दृष्टि उज्ज्वल हो गई, तब मैं भगवान राम के चरित्र का वर्णन कर रहा हूँ। इसका अभिप्राय है कि यहाँ पर तो गोस्वामीजी ने गुरुदेव से दृष्टि की याचना की, लेकिन जब वे अयोध्याकाण्ड का श्री गणेश करने लगे तो फिर से उन्होंने अपने गुरुदेव के चरणों का स्मरण किया। गुरुदेव ने पूछ दिया कि बालकाण्ड में तो तुम बड़े ही विस्तार से मेरे चरणों की वन्दना कर चुके हो, तथा तुमने स्वयं भी यह स्वीकार किया है कि इस चरण रज के द्वारा तुम्हारे विवेक के नेत्र निर्मल हो चुके हैं—किन्तु अब पुनः तुमने मेरा स्मरण किया, तो क्या अभी कोई अन्य वस्तु पाना शेष है? गोस्वामीजी कहते हैं हाँ गुरुदेव! मानस के प्रारम्भ में मैंने आपसे दृष्टि तो प्राप्त कर ली, वह तो मुझे उपलब्ध हो गई किन्तु अभी एक वस्तु पाना और शेष है। इस सन्दर्भ में अयोध्याकाण्ड का पहला दोहा तो आप लोगों ने पढ़ा ही होगा, उस दोहे में गोस्वामीजी गुरुजी की चरण धूलि की ही वन्दना करते हैं, पर अब यह वन्दना वे आँखों के लिए नहीं कर रहे हैं अपितु अब तो वे कहते हैं कि—

श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि । २।१

उन्होंने कहा कि गुरुदेव ! आपकी कृपा से आँखें तो मुझे प्राप्त हो गयीं हैं पर दृष्टि के साथ-साथ जब तक हमारा दर्पण स्वच्छ नहीं होगा तब तक जीवन में परिपूर्णता नहीं आयेगी। इसलिए जैसे आपने हमें दृष्टि प्रदान की है उसी प्रकार से दर्पण देने की भी कृपा करें। वहाँ पर वे दृष्टि का सम्बन्ध तो विवेक से जोड़ते हैं, और मन का सम्बन्ध जोड़ते हैं दर्पण से। इसका अभिप्राय यह हुआ कि दर्पण में देखने के लिए एक तो दृष्टि चाहिए और दूसरे दर्पण तो स्वच्छ होना अत्यन्त आवश्यक है। इसका अर्थ है कि जब तक व्यक्ति के अन्तर्मन में शुद्धता नहीं होगी तथा उसका विवेक चैतन्य नहीं होगा तब तक वह ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसीलिए गोस्वामीजी का आग्रह यह है कि गुरुदेव ! आप कृपा करके मेरे मन के दर्पण की स्वच्छता के लिए भी आशीर्वाद देने की कृपा करें। इसके साथ ही साथ गोस्वामीजी यह भी बताना चाहते हैं कि अगर श्रीरामचरित मानस को हम एक चित्र के रूप में देखें, केवल ऐतिहासिक युग के पुरातन सत्य के रूप में देखें, तो उसका भी अपना एक अलग आनन्द है, तथा उसके द्वारा भी हमें प्रेरणा प्राप्त होती हैं, लेकिन तब भी तो यह है तो भूतकाल ही। और भूतकाल की समस्याएँ अलग होती हैं, तथा वर्तमान की समस्याएँ उनसे भिन्न प्रकार की होती हैं। इसका अभिप्राय है कि रामचरितमानस में भी जो कुछ लिखा गया है उसको यदि हम केवल ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में दृष्टि के माध्यम से एक चित्र के रूप में देखने की चेष्टा करें तो हमें ऐसा लगेगा कि इस चित्र का वर्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु रामचरितमानस को तो गोस्वामीजी मन का दर्पण बताते हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ का नाम करण भी "**रामचरितमानस**" ही किया है।

रामचरितमानस एहि नामा। १।३४।७

और "**मानस**" शब्द भी मन से ही जुड़ा हुआ है, तथा इस प्रकार व्यक्ति के मन की भाँति रामचरितमानस भी एक दिव्य दर्पण है। गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम तो हम रामचरितमानस के माध्यम से भगवान राम को देखें, उसके पश्चात मानस के जो पात्र हैं उनका साक्षात्कार करें। पर इसके साथ-साथ वे यह चाहते हैं कि इस दर्पण में हम अपने आपको देखने की चेष्टा करें, वर्तमान को देखने की चेष्टा करें।

हम इस दृष्टि से रामचरितमानस का अध्ययन करें, पठन करें कि जो सत्य हम पढ़ रहे हैं यह केवल भूतकाल का ही सत्य नहीं है अपितु वर्तमान का भी सत्य है। यह केवल भूतकाल का ही सत्य नहीं हैं अपितु हमारे आपके जीवन से भी जुड़ा हुआ सत्य है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखकर जनकनन्दिनी के अन्वेषण का यह प्रसंग आपके सामने चुना गया है। इसके तात्पर्य पर हम दोनों दृष्टियों से विचार करेंगे, और मैं यह चाहूँगा कि हम इस प्रसंग को चित्र के रूप में न देखकर उसे दर्पण के रूप में देखने की चेष्टा करें। और ऐसा अनुभव करें कि **"सीताजी की खोज"** केवल त्रेतायुग का ही सत्य नहीं है बल्कि हम सबके वर्तमान जीवन का भी सत्य है। सर्वप्रथम मैंने आप से कहा था कि भगवान राम जब शबरीजी से सीताजी का पता पूछते हैं तब यह प्रश्न कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है। क्योंकि आप सब लोग यह भली प्रकार से जानते हैं कि शबरीजी ने सीताजी को कभी नहीं देखा था। प्रभु श्री सीताजी को लेकर यदि कभी शबरीजी के आश्रम में आए होते, सीताजी से शबरी का अगर कोई परिचय होता और तब भगवान राम उनसे पूछ देते कि सीताजी के विषय में यदि आपको कुछ ज्ञात हो तो बताइये—तो यह क्रम कुछ स्वाभाविक प्रतीत होता। दूसरी विलक्षणता यह है कि जब प्रभु विलाप करते हुए विदेहनन्दिनी की खोज में आगे चले तो मार्ग में उन्हें गीधराजजी पड़े हुए मिले, उनके पंख कटे हुए थे, सारा शरीर लहूलुहान था। तब गीधराज को देखते ही भगवान श्री राम के मन में प्रेम उमड़ पड़ा। प्रभु ने आकर उन्हें गोद में उठा लिया, उनके मस्तक पर हाथ फिराने लगे तथा गीधराजजी से पूछ लिया कि आपकी यह दशा करने वाला कौन व्यक्ति है। और तब वे सारा समाचार सुनाते हुए प्रभु से कहते हैं कि महाराज! जनकनन्दिनी का अपहरण करने वाला रावण है, और उस दुष्ट ने ही मेरी यह दशा की है :—

नाथ दसानन यह गति कीन्ही।
तेहिं खल जनकसुता हरि लीन्ही॥ ३।३०।२

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ तक सीताजी के समाचार का प्रश्न है, वह तो भगवान श्री राघवेन्द्र को जटायुजी के द्वारा मिल ही चुका है। प्रभु को यह ज्ञात हो चुका है कि जनकनन्दिनी का अपहरण रावण ने किया है। और जटायुजी ने तो यह भी कह दिया था कि :—

"लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं"। ३।३०।३

प्रभु ! श्री सीताजी को लेकर रावण दक्षिण दिशा में गया है। और जब श्री राघवेन्द्र को यह सारा समाचार गीधराजजी से प्राप्त हो ही चुका है, तब फिर भगवान राम का शबरीजी से यह प्रश्न करना कि "**आप सीताजी का पता बताइए**" क्या अटपटा सा प्रतीत नहीं होता ? और आगे चलकर तो भगवान श्री राघवेन्द्र ने एक ऐसा कार्य किया कि जिस पर शत्रु तथा मित्र दोनों को ही थोड़ा सन्देह हुआ। और वह कार्य क्या है जरा इस पर भी विचार करें। वर्णन आता है कि जब भगवान श्री राघवेन्द्र ने सुग्रीव से मित्रता की तब उसके पश्चात् वे बालि का वध करते हैं। और अन्य ग्रन्थों में तो बालि-बध के प्रसंग का बड़े विस्तार से वर्णन आता है, तथा ऐसा संकेत मिलता है कि प्रहार करने के बाद जब भगवान राम बालि के समक्ष जाकर खड़े हो गए, तब बालि ने प्रभु पर भी बड़े व्यंग्यात्मक शब्दों का प्रहार किया और उसने यह कहा कि मैंने तो सोचा था कि तुम्हारा अयोध्या के राज्य कुल में जन्म हुआ है। तुम एक महान चक्रवर्ती सम्राट के पुत्र हो, इसलिए तुम्हें राजनीति का ज्ञान अवश्य होगा, लेकिन तुम्हारे व्यवहार को देखकर तो यही लगता है कि तुम पूरी तरह से राजनीति-शून्य हो। प्रभु ने पूछा कि बालि ! तुम्हें ऐसा क्यों प्रतीत हो रहा है ? तब बालि ने यह कहा कि राजकुमार ! सीताजी का पता लगाने के लिए आपको एक मित्र की आवश्यकता थी, इसलिए आपने सुग्रीव से मित्रता की है। किन्तु अपने इस कार्य पर आप राजनीति की दृष्टि से विचार करके देखें कि जनकनन्दिनी का पता लगाने के लिए आपको मुझसे मित्रता करनी चाहिए थी कि सुग्रीव से ? बालि ने व्यंग किया कि आपने उसी सुग्रीव से मित्रता की है जो मुझसे संघर्ष में अपनी पत्नी को छोड़कर भाग गया। तो मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि जो व्यक्ति अपनी पत्नी की रक्षा नहीं कर सका, क्या वह आपकी पत्नी को बचा सकता है, ऐसी नासमझी की बात आपके मन में कैसे आ गयी, आपने ऐसा सोचा कैसे ? हाँ अगर आपने मुझसे मित्रता की होती तो मेरे लिए यह बड़ा सरल कार्य था। क्योंकि रावण यदि यह सुन लेता कि मैं आपका मित्र हो गया हूँ तो मेरे भय के कारण वह स्वतः ही सीताजी को लौटा देता, और यदि सीधे न लौटाता तो रावण को जीत करके मैं विदेहनन्दिनी को लौटा लाता क्योंकि मैं रावण का विजेता हूँ। और यह संदेह केवल बालि के मन में ही नहीं अपितु श्री लक्ष्मणजी के अन्तःकरण में भी था। लक्ष्मणजी तो महान वीर हैं, उनके जीवन में तो कायरता का लेश भी नहीं है ? और सुग्रीव के चरित्र पर अगर हम दृष्टि डालें तो उनके जीवन में कायरता की पराकाष्ठा दिखाई देती है। एक शब्द आप लोगों ने सुना होगा "**पलायनवादी**"। वर्तमान काल के भक्तों को बहुधा

लोग कहते हैं कि यह लोग तो समाज को पलायनवादी बनाते हैं। पलायनवादी का अर्थ होता है "**जो भाग खड़ा हो**" यद्यपि वे तो यह वाक्य निन्दा में कहते हैं, पर मैं तो कहूँगा कि रामायण में एक पात्र ऐसा भी है कि जो महान पलायनवादी है। किन्तु भगवान श्री राघवेन्द्र ने उस पलायनवादी पात्र को ही सीताजी की खोज के लिए अपना मित्र चुना। यद्यपि बालि ने तो बाद में आक्षेप किया किन्तु लक्ष्मणजी के मन में यह प्रश्न पहले से ही आ चुका था।

जिस समय सुग्रीव से भगवान राम की मित्रता हुई, उस समय सुग्रीवजी ने अपनी आत्मकथा उन्हें सुनायी, उसे लक्ष्मणजी बड़े ध्यान से सुन रहे थे। अगर आप रामचरित मानस में पलायनवाद का कोई दृष्टान्त पाना चाहते हों तो सुग्रीव के चरित्र से बढ़कर इसका कोई प्रमाण नहीं है। सुग्रीवजी ने भगवान श्री राम को अपना संस्मरण सुनाते हुए कहा कि प्रभु! मैं और बालि दोनों सगे भाई थे। बाल्यावस्था में बालि से मेरी बड़ी प्रगाढ़ मित्रता थी। भगवान ने पूछ लिया कि फिर क्या हो गया? उन्होंने कहा कि महाराज! एक दिन अर्द्ध रात्रि के समय मायावी नामक दैत्य ने आकर बालि को चुनौती दी। क्योंकि मायावी तो यह सोचता था कि बन्दर रात्रि के समय निर्बल होते हैं तथा मेरी इस चुनौती को अगर बालि स्वीकार नहीं करेगा तो मैं स्वयं को विजेता घोषित कर दूँगा, लेकिन बालि तो इतना तेजस्वी और साहसी था कि वह कभी किसी की चुनौती को सह नहीं सकता था :—

मय सुत मायावी तेहि नाऊँ।
आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ।।
अर्ध राति पुर द्वार पुकारा।
बाली रिपु बल सहै न पारा।।
धावा बालि देखि सो भागा।४।५।४

जब बालि उसकी चुनौती को स्वीकार करके अपने भवन से निकला तो मायावी भाग खड़ा हुआ। प्रभु ने पूछा कि तब तुमने क्या किया? तो बोले; महाराज!

"मैं पुनि गयउँ बंधु संग लागा।" ४।५।४

मैं भी बालि के पीछे-पीछे गया। प्रभु ने मुस्करा कर कहा कि तुम संकट के समय भी भाई के साथ गए, इससे स्पष्ट है कि तुम्हारा अपने भाई के

प्रति बड़ा प्रेम था। पर आगे का जो संस्मरण उन्होंने सुनाया, उसे सुनकर तो श्री लक्ष्मणजी के मन में सुग्रीव के प्रति पूरी तरह हीनता की भावना आ गई।

सुग्रीव ने कहा कि प्रभु ! मायावी एक गुफा में पैठ गया और जब बालि उस गुफा में पैठने लगा तो उसने मुझसे कहा कि तुम बाहर खड़े रहो, और तब मैं बाहर ही खड़ा रह गया। इस संस्मरण को सुनकर लक्ष्मणजी को यह लगा कि यदि गुफा के भीतर प्रविष्ट ही नहीं होना था तो फिर इतनी दूर दौड़कर जाने की आवश्यकता क्या थी? किन्तु उन्होंने सोचा कि सम्भवतः आगे के संस्मरण में इसकी वीरता का कोई परिचय मिले। और फिर सुग्रीव ने कहा कि मैं एक महीने तक वहाँ प्रतीक्षा करता रहा। परन्तु एक महीने के पश्चात् जब मैंने गुफा के भीतर से रक्त की धारा को निकलते देखा तो मुझे लगा कि बालि मारा गया। भगवान श्री राघवेन्द्र ने पूछा कि बालि के मारे जाने की तुम्हारे ऊपर क्या प्रतिक्रिया हुई? तो सुग्रीव ने कहा कि प्रभु ! मैंने तो बस एक ही काम किया। मैंने सोच लिया कि :—

बालि हतेसि मोहि मारिहि आई।
सिला देइ तहँ चलेउँ पराई॥ ४।५।८

मुझे लगा कि जब उसने बालि को मार दिया, तब मुझे तो अवश्य ही मार देगा, इसलिए अब यहाँ रुकना ठीक नहीं है। और यह विचार कर मैंने उस गुफा के द्वार पर एक विशाल शिला रख दी तथा वहाँ से भाग खड़ा हुआ। इस प्रकार इनका पहला संस्मरण ही यही था कि अगर भाई मारा गया तो उसका बदला लेने की बात नहीं है अपितु स्वयं भाग खड़े होने की वृत्ति है। इस प्रसंग के द्वारा भी सुग्रीव की कायरता का ही परिचय प्राप्त होता है। प्रभु ने पूछा कि फिर क्या हुआ? सुग्रीव ने कहा कि महाराज ! मन्त्रियों ने मुझसे कहा कि सिंहासन पर बैठने वाला कोई नहीं है। बालि की मृत्यु हो गयी है, और तब उन लोगों ने बलात् मुझे सिंहासन पर बैठा दिया :—

बाली ताहि मारि गृह आवा।
देखि मोहि जियँ भेद बढ़ावा॥
रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।
हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी॥ ४।५।११

महाराज ! बालि जब लौटकर आया तब उसने मेरी सम्पत्ति छीन ली, तथा पत्नी को भी छीन लिया। भगवान ने पूछा कि फिर तुमने क्या किया ? सुग्रीव ने कहा कि मैं तो तुरन्त भाग खड़ा हुआ :—

ताके भय रघुबीर कृपाला।
सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला।। ४।५।१२

इनके पहले संस्मरण में भी यही था कि गुफा के द्वार से भाग खड़े हुए, और दूसरा संस्मरण भी यही है कि जब बालि ने इनकी स्त्री को छीन लिया तो भाग खड़े हुए। आगे चलकर तो इससे भी व्यंगात्मक वर्णन तब आता है कि जब सुग्रीवजी ने भगवान राम तथा लक्ष्मणजी को आते हुए देखा तो उन्हें संदेह हो गया कि शायद यह बालि के भेजे हुए मुझे मारने आ रहे हैं। तब उन्होंने श्री हनुमानजी से कहा कि आप जरा ब्राह्मण का रूप बनाकर जाइए तथा वहाँ से मुझे संकेत कर दीजिए कि यह शत्रु है अथवा मित्र ? हनुमानजी ने पूछा कि अगर बालि के भेजे हुए हों तो आप क्या करेंगे ? सुग्रीव बोले कि मैं तो एक ही कार्य करूँगा :—

पठए बालि होंहि मन मैला।
भागौं तुरत तजौं यह सैला।। ४।०।५

इन्होंने कहा कि मैं फिर यहां से भाग खड़ा होऊँगा। और सुग्रीव के चरित्र में भागने का सबसे अन्तिम दृश्य तब आता है कि जब वे भगवान राम के कहने से बालि से युद्ध करने गये, और जब वहाँ पर बालि ने कसकर मुक्का मारा तब सुग्रीव ने क्या किया ? गोस्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा कि :—

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा।
मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा।। ४।७।३

ज्योंही बालि का कस करके मुक्का लगा त्योंही वे भाग खड़े हुए। इसका तात्पर्य है कि सुग्रीव के चरित्र में आदि से लेकर अन्त तक केवल भगोड़ेपन की वृत्ति ही दिखाई देती है। और लक्ष्मणजी को सबसे बड़ा आश्चर्य तब हुआ कि जब ऐसे भागने वाले सुग्रीव ने भगवान राम को आश्वासन देते हुए कहा कि प्रभु ! आप घबड़ाइए नहीं, सीताजी आपको अवश्य मिलेंगी। और

साथ-साथ प्रभु से उन्होंने यह भी कह दिया कि मैंने सीताजी को अपनी आँखों से देखा है। प्रभु ने बड़ी उत्सुकता से जिज्ञासा प्रगट की कि कब और कैसे देखा ? तो इन्होंने कहा कि महाराज !

• मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा।
बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा।। ४।४।४

एक बार मैं मंत्रियों के साथ इस पर्वत शिखर पर बैठा हुआ था। तथा शिखर पर बैठे हुए मैंने जो दृश्य देखा वह यह था कि एक राक्षस किन्हीं देवी का हरण करके ले जा रहा था। वे बहुत विलाप कर रही थीं, तथा उन्होंने मुझे देखकर अपना वस्त्र डाल दिया और वह वस्त्र मेरे पास सुरक्षित है। ऐसा कहकर सुग्रीवजी ने वह वस्त्र-खण्ड लाकर प्रभु को दिया और भगवान श्री राघवेन्द्र उस वस्त्र को हृदय से लगा लेते हैं। अब आप कल्पना कीजिए कि इस सम्पूर्ण संस्मरण को सुनने के पश्चात् लक्ष्मणजी पर क्या प्रतिक्रिया हुई होगी ? उन्हें लगा कि इस व्यक्ति के तो प्रत्येक संस्मरण में केवल कायरता ही कायरता भरी पड़ी है। यहाँ तक कि सीताजी का हरण इसने अपनी आँखों से देखा किन्तु फिर भी उन्हें बचाने की चेष्टा नहीं की। उस समय लक्ष्मणजी को गीधराजजी की याद आ गई। वे सोचने लगे कि कहाँ तो बूढ़े जटायुजी जिन्होंने प्राण देकर भी विदेहनन्दिनी को बचाने का प्रयत्न किया, और कहाँ यह कायर सुग्रीव जो कि सीताजी का हरण अपनी आँखों से देखता रहा। और तब लक्ष्मणजी के मन में भी वही प्रश्न आया कि सुग्रीव की मित्रता के द्वारा क्या जनकनन्दिनी की प्राप्ति होगी ? बालि का भी अभिप्राय यही है कि क्या सुग्रीव आपको सीताजी की उपलब्धि करा सकेगा ? और तब भगवान राम ने लक्ष्मणजी को वह सूत्र बताया जिसमें रामचरित मानस की सार्वकालिकता का रहस्य छिपा हुआ है।

श्री लक्ष्मणजी ने जिज्ञासा प्रकट की कि प्रभु ! आपने सुग्रीव से क्यों मित्रता की ? तब प्रभु ने उन्हें शबरीजी के आश्रम का स्मरण दिलाते हुए कहा कि लक्ष्मण तुम्हें याद होगा कि जब मैंने शबरीजी से यह प्रश्न किया कि सीताजी कहाँ मिलेंगी ? तब वे मुझसे यह भी कह सकती थीं कि आप किष्किन्धा में जाकर बालि से मित्रता करें, वह विदेहनन्दिनी का पता लगा देगा। किन्तु शबरीजी ने भी केवल सुग्रीव का ही नाम लिया था। और मुझे तो उनके वचनों पर अगाध श्रद्धा और विश्वास है, मैं तो यही मानता हूँ कि सीताजी की प्राप्ति का जो मार्ग शबरीजी ने बताया है, जनकनन्दिनी उसी पथ से प्राप्त होंगी, और उनके बताए मार्ग को स्वीकार करके ही मैंने

सुग्रीव से मित्रता की है। अन्त में भगवान राम ने एक अनोखा संकेत देते हुए कहा कि लक्ष्मण! तुमने सुग्रीव की कायरता पर तो दृष्टि डाली पर एक विलक्षणता की ओर तुम्हारा ध्यान गया कि नहीं? प्रभु ने कहा कि एक ओर तो शबरीजी ने मुझसे कहा कि आप सुग्रीव से मित्रता कीजिए। और दूसरी ओर सीताजी का हरण करके ले जाते समय रावण ने दण्डकारण्य से लंका तक की यात्रा की, हजारों योजन तक सीताजी गईं, किन्तु इस व्यक्ति को देखकर उनके मन में क्यों यह प्रेरणा हुई कि उन्होंने इसीको अपना संदेश सूत्र दिया। बालि के सामने उन्होंने आभूषण क्यों नहीं डाल दिए। उन्हें इस मार्ग में अन्य किसी ने प्रेरित क्यों नहीं किया? तथा किसी अन्य व्यक्ति को देखकर उन्होंने अपना चिन्ह क्यों नहीं दिया। लक्ष्मण! जरा सोचो कि यह कितनी विचित्र सी बात है कि शबरीजी ने यही कहा कि सुग्रीव से मित्रता कीजिए, और सीताजी भी अपनी प्राप्ति के लिए जिस व्यक्ति को माध्यम चुनती हैं वह किसी महान योद्धा को नहीं अपितु सुग्रीव को ही चुनती हैं। तो सीता और शबरी दोनों ने जिसे चुना है क्या उनके चुनाव में कोई रहस्य है ही नहीं, कोई तात्पर्य है ही नहीं? भगवान श्रीराम का अभिप्राय था कि लक्ष्मण! सीताजी की प्राप्ति तो वस्तुतः सुग्रीव के माध्यम से ही हो सकती है। किन्तु यदि केवल तर्क की दृष्टि से देखें तो यही प्रतीत होता है कि बालि ने बिल्कुल ठीक ही कहा था कि यदि आप सीताजी को पाना चाहते हैं तो फिर मुझसे मित्रता कीजिए। किन्तु भगवान तो सुग्रीव से मित्रता करते हैं। इसका अभिप्राय क्या है? इसका एक और सूत्र मैं आपके सामने सांकेतिक रूप में रख दूँ।

विदेहनन्दिनी के हरण के पश्चात भगवान राम सीताजी को खोजते हुए शबरीजी के आश्रम में पहुँचे तथा शबरीजी ने प्रभु के सामने कन्द, मूल, फल अर्पित किए। जो कन्द, मूल, फल वे अर्पित करती हैं वे कितने असाधारण थे इसका पता तब चलता है जब गोस्वामीजी ने भगवान राम के उस व्यवहार का वर्णन किया जो कि सजग व्यक्ति कभी नहीं करेगा। आपको यदि कोई व्यक्ति भोजन का निमन्त्रण दे, तथा आपके समक्ष व्यञ्जन का थाल सजाकर रख दे, और आप भोजन करते समय अगर यह कहने लगें कि दूसरे व्यक्ति के घर पर जो भोजन किया था, वह बड़ा स्वादिष्ट था, तो आपकी यह बात उस व्यक्ति को बहुत दुख पहुँचाने वाली होगी। क्योंकि जिसका भोजन कर रहे हैं उसकी चर्चा न करके दूसरे के भोजन की चर्चा करने का तात्पर्य है कि आपका भोजन प्रिय नहीं लगा। किन्तु लंका से लौटने पर भगवान राम का व्यवहार कुछ इसी प्रकार का अटपटा सा हुआ। विनय पत्रिका में गोस्वामीजी वर्णन करते हैं कि अयोध्या

में जहाँ कहीं भी भगवान राम को भोजन का निमन्त्रण मिला वहाँ पर बड़े प्रेम से लोगों ने स्वागत किया। लेकिन जब भी मित्रों ने जानना चाहा कि भोजन कैसा लगा ? तो बिना संकोच के प्रभु वह बात कह देते हैं कि जो साधारण व्यवहार में कहने की नहीं है।

घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि शबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई ।।विनय१६४

प्रभु कहते हैं कि मित्रों आप सभी लोगों ने बड़े प्रेम से मेरे समक्ष व्यञ्जन परोसे, तथा मैंने भी सर्वत्र व्यञ्जनों का आनन्द लिया पर सचमुच शबरी के फलों से मुझे जो रसानुभूति हुई वैसी अनुभूति अन्यत्र न हो सकी।

सीताजी के अन्वेषण की प्रथम पात्र शबरी भगवान श्री राघवेन्द्र का कन्द-मूल-फल से स्वागत करती हैं और भगवान राम कन्द-मूल-फलों में ही ऐसी तृप्ति का अनुभव करते हैं जैसी उन्होंने न तो पहले कभी की और न ही बाद में। फिर आगे चलकर आप देखेंगे कि सुग्रीव के द्वारा जब सीताजी का पता लगाने के लिए बन्दरों को भेजा जाता है तब उन बन्दरों को मार्ग में एक नारी पात्र और मिलती है, जिसका नाम है स्वयंप्रभा। यह पूरा प्रसंग तीन नारी पात्रों से जुड़ा हुआ है। इसका प्रारम्भ होता है शबरी से, मध्य स्वयंप्रभा से और अन्त होता है श्री सीताजी से। इन प्रसंगों में साम्य यह है कि बन्दरों को जनकनन्दिनी का पता लगाने को भेजा जाता है किन्तु वे असमर्थ हो जाते हैं; और तब जैसे भगवान राम शबरीजी के द्वारा सीताजी का पता प्राप्त करते हैं ठीक उसी प्रकार इन बन्दरों को जिस पात्र के द्वारा जनकनन्दिनी का पता लगा है वह है स्वयंप्रभा। स्वयंप्रभा के प्रसंग में भी बड़ी विचित्र-सी बात यह जुड़ी हुई है कि जब बन्दर गुफा में प्रविष्ट हुए और उन्होंने स्वयंप्रभा के चरणों में प्रणाम किया तब स्वयंप्रभा ने कहा कि :—

तेहिं तब कहा करहु जल पाना।
खाहु सुरस सुन्दर फल नाना ।।४।२४।२

पहले आप लोग जल पीजिए, फल खाइए फिर मेरे पास आइएगा, तब मैं आपलोगों से वार्तालाप करूँगी। भगवान राम को फल खिलाया शबरीजी ने और सीताजी की खोज में चलने वाले बन्दरों को फल अर्पित किये स्वयंप्रभा ने। भगवान श्रीराम को शबरी के द्वारा प्राप्त फलों में

अनुपम स्वाद की अनुभूति हुई तथा स्वयंप्रभा के फलों से बन्दरों को तृप्ति प्राप्त हुई। इस प्रसंग की समाप्ति तब होती है जब कि श्री हनुमानजी अशोकवाटिका में पहुँचे, किन्तु अनोखापन यह है कि यहाँ पर जब जगत-जननी अपनी ओर से फल खाने का निमन्त्रण नहीं देती हैं तो हनुमानजी ने स्वयं ही कह दिया कि :—

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा।
लागि देखि सुन्दर फल रूखा ।।५।१६।७

उन्होंने कहा कि "माँ !" आपने तो भोजन के लिए बालक को पूछा ही नहीं, यद्यपि भोजन की यहाँ पर कोई समस्या नहीं है, क्योंकि वाटिका में इतने सुन्दर वृक्ष लगे हुए हैं। और वृक्षों पर फल कितने मधुर हैं जरा यह भी आप सोचिये। इसलिए हनुमानजी ने कहा कि बस अब तो आप मुझे केवल आज्ञा दे दीजिए। माँ ने कहा कि मैं तो स्वयं ही निमन्त्रण देती, पर क्या बताऊँ :—

सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी।
परम सुभट रजनीचर भारी ।।५।१६।८

पुत्र यहाँ पर तो राक्षस हैं। श्री सीताजी ने कहा कि शबरी के आश्रम में कोई राक्षस नहीं था, और स्वयंप्रभा की गुफा में भी राक्षस नहीं था, अतः वहाँ पर फल खाने में भी कोई बाधा नहीं है, पर यहाँ तो राक्षस हैं, फल खाने में बाधा है अब तुम्हीं बताओ कि मैं कैसे आदेश दूँ ? और तब हनुमानजी ने तुरन्त कहा कि :—

तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं।
जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं ।।५।१६।९

वे बोले कि "माँ !" मुझे तो इनका रञ्च मात्र भय नहीं है। मैं तो यह चाहता हूँ कि आप अपने मन में प्रसन्नता का अनुभव करें। आपके मन में यदि किसी प्रकार का संकोच न हो तो मैं फल खा लूँ। माँ ने प्रसन्न होकर फल खाने की आज्ञा देते हुए कहा कि :—

रघुपति चरण हृदयँ धीर तात मधुर फल खाहु ।।५।१७

श्री राघवेन्द्र के चरणों को हृदय में धारण करके मधुर फलों का रसास्वादन करो। इसका अभिप्राय है कि वैदेही की खोज में आदि मध्य और अन्त तीनों फल से जुड़े हुए हैं। तथा इसमें अनोखापन यह है कि शबरीजी के आश्रम में पहुँच कर यदि भगवान तृप्त हुए तो सीताजी के निकट पहुँच कर भक्त तृप्त हुआ। भक्ति देवी की खोज में जाने वाले जो साधक थे उन सबकी क्षुधा शान्त हुई स्वयंप्रभा की गुफा में पहुँचकर। इतना ही नहीं आप यह भी याद रखियेगा कि इस यात्रा में तीन यदि खिलाने वाले हैं तो तीन ही खाने वाले भी हैं। तथा वह तीनों भी नारी पात्र ही हैं। इनमें पहली पात्र है सुरसा, उसने हनुमानजी से कहा कि :—

आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा ।५।१।३

दूसरी पात्र है सिंहिका, जिसका वर्णन करते हुए गोस्वामी कहते हैं कि :

निसिचरि एक सिन्धु महुँ रहई।
करि माया नभु के खग गहई।।
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं।
जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं।।
गहइ छाँह सक सो न उड़ाई।
एहि बिधि सदा गगनचर खाई।। ५।२।३

और जब हनुमानजी लंका में पैठने लगते हैं तब तीसरी पात्र लंकिनी उन्हें खाने की चेष्टा करती है। उसने हनुमानजी से प्रश्न किया कि तू मेरा व्रत नहीं जानता है क्या ?

जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा। ५।३।३

हनुमानजी ने जानना चाहा कि तुम्हारा व्रत क्या है जरा यह भी तो बताओ ? तो इसने तुरन्त कहा कि "**मोर अहार जहाँ लगि चोरा**" इस प्रकार यह तीन खाने वाले पात्र हैं. सुरसा, सिंहिका और लंकिनी। इसीलिए हनुमानजी ने माँ से जो वाक्य कहा कि '**मुझे बड़ी भूख लगी है**' उसमें निहित व्यङ्ग यह है कि "माँ" मैं इतनी दूर से आ रहा हूँ, किन्तु रास्ते में तो मुझे केवल खाने वाले ही मिले, खिलाने वाला तो कोई मिला ही नहीं। लेकिन यह जो तीन खिलाने वाले और तीन खाने वाले पात्र है,

क्या यह केवल हनुमानजी के जीवन का ही सत्य है, क्या यह केवल इतिहास का ही सत्य है, हमारे आपके जीवन का सत्य नहीं है क्या ? सीताजी के अन्वेषण का हमारे-आपके जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है क्या ? वस्तुतः इस पूरे प्रसङ्ग पर यदि गम्भीरता से विचार करें तो हमें ऐसा लगेगा कि सारा समाज आज भी श्री सीताजी की खोज में लगा हुआ है। यह अन्तर अवश्य है कि कोई व्यक्ति सही मार्ग के द्वारा उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है और कोई गलत मार्ग से। **"किन्तु हम विदेहनन्दिनी को पाना चाहते हैं"** यही सत्य प्रत्येक व्यक्ति के जीवन से जुड़ा हुआ है। यह केवल इतिहास के पात्रों का ही सत्य नहीं है। अब आइए जरा इस पर भी विचार करें कि श्री सीताजी कौन हैं, तथा उनका स्वरूप क्या है ?

श्री सीताजी के तात्त्विक स्वरूप पर अनेक आचार्यों ने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। भगवान शंकराचार्य से कहा गया कि भगवान राम जब सीताजी के साथ अयोध्या के सिंहासन पर बैठे तब रामराज्य की स्थापना हुई, तो उन्होंने कहा कि भाई ! श्री सीताजी केवल एक नारी पात्र ही नहीं हैं। और तब वे उनका आध्यात्मिक स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि :—

"शान्ति सीता समानीता आत्मा रामो विराजते"

इस प्रकार श्री राम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं और सीताजी मूर्तिमती शान्ति हैं। इसका अभिप्राय है कि जब तक दुर्गुण दुर्विचारों का संहार नहीं हो जाता है तथा अन्तःकरण के सिंहासन पर जब तक ब्रह्म और शान्ति विराजमान नहीं हो जाते हैं तब तक व्यक्ति और समाज के जीवन में रामराज्य की स्थापना नहीं होती है। तो वेदान्त की भाषा में श्री सीताजी मूर्तिमती शान्ति हैं। और योग की दृष्टि से अगर विचार करें तो हमें उनके एक नए स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। योगियों से जब प्रश्न किया गया कि आपकी दृष्टि में सीताजी का क्या स्वरूप है, तब उन्होंने कहा कि इस प्रश्न का उत्तर आपको जनकजी के मण्डप में मिलेगा। क्योंकि जनकजी बहुत बड़े योगी थे। वर्णन आता है कि महाराज श्री जनक के मण्डप में जिस समय चारों राजकुमारों के साथ चारों राजकुमारियों का परिणय सम्पन्न हुआ उस समय गोस्वामीजी से पूछा गया कि एक योगी की दृष्टि में इस विवाह का अर्थ क्या है तो उन्होंने उस प्रसंग के बीच में भी दर्शनशास्त्र को जोड़ दिया। वे कहते हैं कि अगर योगी की आँखों से देखें तो यह केवल चार वर-कन्याओं का विवाह ही नहीं है अपितु यह चारों राजकुमारियाँ जीव के अन्तःकरण में रहने वाली चार अवस्थायें हैं, और यह

चारों राजकुमार ही इन चारों अवस्थाओं के स्वामी हैं। गोस्वामीजी इसका संकेत करते हुए कहते हैं कि :—

सुन्दरी सुन्दर बरन्ह सह सब एक मडप राजहीं।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन सहित बिराजहीं॥ १।३२४।१४

चारों अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन तो हम इस प्रसङ्ग में नहीं करेंगे, केवल यह अवश्य कहेंगे कि यह तीन जो राजकुमारियाँ हैं वे जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति की प्रतीक हैं, तथा श्री सीताजी मूर्तिमती तुरीयावस्था हैं, और श्रीराम साक्षात् ब्रह्म हैं। योग शास्त्र की ऐसी मान्यता है कि समाधि के माध्यम से जब योगी तुरीयावस्था में प्रवेश करता है तब यह ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इसका अभिप्राय है कि **"योग की भाषा में जनकनन्दिनी तुरीयावस्था हैं"** और जब भक्तों से पूछा गया कि आपकी दृष्टि में सीताजी कौन हैं, तब भक्तों ने कहा कि वे तो मूर्तिमती भक्ति हैं। किसी ने गोस्वामीजी से जिज्ञासा प्रकट की कि जिस समय श्री भरत चित्रकूट में भगवान राम को श्री सीताजी के साथ वटवृक्ष की छाया में बैठे हुए देखते हैं, उस समय उन्हें कैसा लगा ? गोस्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा कि :—

लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यान सभाँ जनु तनु धरें भगति सच्चिदानंदु॥ २ २३९

उन्होंने कहा कि श्री भरत को तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जैसे साक्षात् सच्चिदानन्द और भक्ति ही शरीर धारण करके वट वृक्ष के नीचे विराजमान हैं। इसका अभिप्राय है कि **"भक्तों की दृष्टि में"** श्री राम सच्चिदानन्द हैं और **"श्री सीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं"** किन्तु **"कर्मयोगी के विचार से वे आदि शक्ति हैं"**। भगवान राम मनु के सामने सीताजी का परिचय इसी रूप में देते हैं। प्रभु ने मनु से कहा कि :—

आदि सक्ति जेंहि जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥ १।१५२।४

और यदि पुराणों की दृष्टि से देखें तो ऐसा लगता है कि **"साक्षात् महालक्ष्मी ही जनकनन्दिनी के रूप में अवतरित हुई हैं"**। इसका अभिप्राय है कि विदेहनन्दिनी ही शान्ति हैं, वे ही भक्ति हैं, तुरीयावस्था भी वे ही हैं,

तथा आदि शक्ति और भगवती महालक्ष्मी भी श्री सीताजी ही हैं। और उनके इन स्वरूपों को दृष्टिगत रखकर यदि हम विचार करें तो हमें ऐसा लगेगा कि केवल आज इस युग में ही नहीं अपितु प्रत्येक युग में प्रत्येक व्यक्ति उनके इन्हीं स्वरूपों में से किसी न किसी की खोज में लगा हुआ है, और प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है। जो व्यक्ति व्यापार कर रहा है वह भी लक्ष्मी के रूप में उन्हीं को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है। जो शक्ति की खोज में है वह भी सीताजी को ही प्राप्त करने का प्रयास कर रहा है। जो समाधि के द्वारा तुरीयावस्था की खोज में लगा है वह भी तो सीताजी को ही पाने की चेष्टा कर रहा है। और जो भक्ति की प्राप्ति में लगे हुए हैं वे भी मानो उन्हीं की खोज में सलग्न हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जनकनन्दिनी का अन्वेषण हमारे और आपके जीवन का शाश्वत सत्य है ; किन्तु सही अर्थों में विदेहनन्दिनी को कैसे खोजना चाहिए तथा उनकी उपलब्धि का उचित मार्ग क्या है इस पर भी थोड़ा विचार करने की चेष्टा की जाए। तथा सीताजी की खोज का जो गलत मार्ग है रामचरितमानस में तो उसका भी वर्णन किया गया है। इसका अर्थ है कि कभी-कभी किसी व्यक्ति को देखने पर ऐसा लगता है कि इन्होंने तो जीवन में सफलता पा ली है। लेकिन उन्हें देखकर क्या हम ऐसा विश्वास कर लें कि उन्होंने सचमुच श्री सीताजी को प्राप्त कर लिया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधारण दृष्टि से देखें तो ऐसा लगता है कि विदेहनन्दिनी को प्राप्त करने के लिए बन्दरों को बड़ा ही कठिन परिश्रम करना पड़ता है तथा भगवान राम तो उन्हें वन-वन खोजते हैं, किन्तु रावण ने जनकनन्दिनी को बड़ी सरलता से पा लिया है। परन्तु रावण ने जिस पद्धति से पाया, क्या वह सही मार्ग है ? लेकिन रामचरित मानस में इसका उत्तर देते हुए बताया गया कि श्री सीताजी को प्राप्त करने का सही क्रम वही है जिस क्रम से प्रभु यात्रा करते हैं।

भगवान श्री राम विदेहनन्दिनी की खोज करते समय सबसे पहले शबरी जी के आश्रम में जाते हैं। और वहाँ पहुँचकर जिस प्रकार वे शबरी के द्वारा प्रदत्त फलों का रसास्वादन करते हैं, उसी तरह हम सब लोगों को भी स्वयंप्रभा के फलों का आस्वादन करना होगा और बाद में जब अशोक वाटिका में पहुँचकर जगज्जननी को प्राप्त कर लेंगे तब हमारे जीवन का लक्ष्य पूर्ण हो जायगा, हमारी भूख शान्त हो जाएगी। इस प्रसंग को भूख, प्यास से जोड़ने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भूख और प्यास व्यक्ति को बेचैन बना देती है, और व्यक्ति अपनी क्षुधा को शान्त करने के लिए न जाने क्या-क्या करता है, उसी प्रकार व्यक्ति का मन भी भूखा प्यासा है।

गोस्वामीजी बताना चाहते हैं कि व्यक्ति के मन की यह जो भूख और प्यास है इसको मिटाने का एकमात्र उपाय यही है कि किसी प्रकार हम सीताजी को उचित मार्ग के द्वारा खोजने की चेष्टा करें। और इसमें कोई संदेह नहीं कि यह जो खाने वाली तीन नारी पात्र हैं (जिनकी चर्चा अभी आपके सामने की गई) यह वे विघ्न हैं, जो श्री सीताजी की खोज में चलते समय हमें बहुधा मार्ग में मिलते हैं ; तथा बहुधा हम में से अनेक व्यक्ति ऐसे भी होते हैं कि जो इन पात्रों के द्वारा खा लिये जाते हैं। कुछ लोगों को सुरसा खा जाती है, कुछ को सिंहिका, तो कुछ व्यक्तियों को लंकिनी ही अपना ग्रास बना लेती है ; किन्तु कुछ सौभाग्यशाली पात्र ऐसे भी होते हैं जो शबरी, स्वयंप्रभा और सीताजी का साक्षात्कार करते हुए जीवन में परिपूर्णता का अनुभव करते हैं। और कुछ अभागे रावण के समान ऐसा भी सोचते हैं कि चाहे जिस पद्धति से पाया हो, लेकिन हमने सीताजी को तो पा ही लिया है। परन्तु क्या रावण ने सच्चे अर्थों में जनकनन्दिनी को पाया, क्या सचमुच रावण के जीवन में शान्ति आई ? इसी प्रश्न को दृष्टिगत रखकर गोस्वामीजी रामचरितमानस में एक बड़ा सांकेतिक शब्द लिखते हैं। वर्णन आता है कि जब रावण की सभा में अंगद जाते हैं, तब उन्होंने रावण की सभा में अपना पैर रोप दिया, और वे यह घोषणा करते हैं कि :—

जौं मम चरन सकसि सठ टारो।
फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥६।३३।९

अंगद की इस प्रतिज्ञा के पीछे रहस्य क्या था, इस पर आपने कभी विचार किया क्या ? इसका मनोविज्ञान यह था कि एक बार मंदोदरी ने रावण को फटकारते हुए कहा कि सीताजो को प्राप्त करने का उचित मार्ग तो खुला हुआ था ही। क्योंकि जिस समय महाराज श्री जनक ने यह प्रतिज्ञा की कि जो धनुष को तोड़ेगा, उसे मैं अपनी कन्या अर्पित करूँगा उस समय आपने धनुष को तोड़कर जनकनन्दिनी को क्यों नहीं प्राप्त किया ? आपने सही मार्ग से उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा क्यों नहीं की ? पर रावण तो बात बनाने की कला में बड़ा निपुण था। उसका यह दुर्भाग्य था कि अपने पाण्डित्य का उपयोग वह निरन्तर दूसरों को धोखा देने में ही करता था। उस समय मंदोदरी के प्रश्न का तर्कपूर्ण उत्तर देते हुए उसने कहा कि तुम यह तो सोचो कि जो व्यक्ति कैलाश पर्वत को उठा सकता है क्या वह शंकरजी के धनुष को नहीं उठा सकता ? अरे मंदोदरी ! सीधा सा गणित है कि जब कैलाश पर्वत पर शंकरजी बैठे हुए थे और धनुष भी रखा

हुआ था, मैंने तभी तो कैलाश को उठाया था। उसने कहा कि जब मैंने धनुष और शंकरजी के सहित कैलाश को उठा लिया तो केवल धनुष को उठाने में क्या रखा था? किन्तु मंदोदरी! जनक ने यदि धनुष को केवल उठाने की प्रतिज्ञा की होती तब तो मैं उसे उठा लेता, पर जनक ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि धनुष को केवल उठाना ही नहीं अपितु उसे तोड़ना भी है, और तब मैंने सोचा कि गुरुदेव की वस्तु को तोड़ना तो बड़ा अनुचित कार्य है इसीलिए मैंने धनुष को नहीं तोड़ा, यद्यपि मुझ में सामर्थ्य थी। परिणाम यह हुआ कि रावण के पांडित्य के समक्ष मंदोदरी को चुप हो जाना पड़ा। किन्तु रावण की इस मनोवृत्ति पर अंगद ने बहुत बढ़िया व्यंग्य किया। पैर रोपकर मानो अंगद ने रावण से कहा कि सीताजी को पाने का क्या केवल एक ही उपाय है, आज एक अवसर और सही। उन्होंने स्मरण दिलाया कि यह तो बन्दर का पैर है, यह कोई शंकरजी का धनुष तो है नहीं। और इसको तोड़ना भी नहीं है, मैं तो केवल उठाने के लिए ही कह रहा हूँ। इसलिए तुम अथवा तुम्हारी सभा का कोई व्यक्ति यदि मेरे पैर को हटा दे तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि श्री राम यहाँ से लौट जायँगे, और मैं सीताजी को हारता हूँ। परिणाम यह होता है कि राक्षस पैर उठाने की चेष्टा करते हैं पर वे असमर्थ हो जाते हैं। तब गोस्वामीजी से किसी ने पूछा कि इतने राक्षसों के द्वारा चेष्टा करने पर भी अंगदजी का पैर नहीं उठा इसका अभिप्राय क्या है? तब वे एक दार्शनिक सूत्र देते हुए कहते हैं कि अंगदजी का पैर वस्तुतः मोह है। और अंगद ने पैर को **"मोह बिटप"** का प्रतीक बनाकर रावण को चुनौती दे दी। उनका अभिप्राय था कि जो व्यक्ति मोह पर विजय प्राप्त कर लेगा वही सच्चे अर्थों में श्री सीताजी को प्राप्त कर सकता है। किन्तु यहाँ पर राक्षस असमर्थ क्यों हो गए? तब गोस्वामी जी ने कहा कि भई कारण तो स्पष्ट ही है, क्योंकि :—

पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी।
मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी॥ ६।३३।१४

वस्तुतः इस मोह-बिटप को कुयोगी नहीं उखाड़ सकता। योग शब्द का अर्थ तो आपको भलीभाँति विदित होगा ही, किसी वस्तु की उपलब्धि ही योग है, तथा योगी का अर्थ है कि जिसने परम तत्व को पा लिया है। तथा गोस्वामीजी से जब प्रश्न किया गया कि महाराज! यह तो बताइए कि रावण योगी है या नहीं? तो उन्होंने कहा कि रावण को हम यह तो नहीं कह सकते कि वह योगी नहीं है, पर इसके लिए हम अवश्य कहेंगे कि

वह "**कुयोगी**" है। इसका अभिप्राय यह है कि साधारण दृष्टि से यदि विचार करके देखें तब तो यह लगता है रावण बड़ा सफल योगी है क्योंकि उसने सीताजी को पा लिया, पर क्या वस्तुतः वह उन्हें प्राप्त कर सका ? दृष्टान्त के रूप में इसे हम यों कह सकते हैं कि एक व्यक्ति के सामने यदि विभिन्न प्रकार के व्यंजन रखे हुए हैं किन्तु अगर वह उन व्यंजनों का रसास्वादन नहीं कर सकता, उनकी रसानुभूति नहीं कर सकता, तो क्या थाल में व्यंजन रखे जाने मात्र से उनकी उपलब्धि की सार्थकता कही जा सकती है ? गोस्वामीजी यह बताना चाहते हैं कि रावण जैसे कुयोगी विदेह-नन्दिनी को प्राप्त तो करना चाहते हैं लेकिन उनका दुर्भाग्य यह है कि वे उचित मार्ग से भटक चुके हैं।

रामायण में रावण और शूर्पणखा यह दोनों पात्र भटके हुए हैं। एक ओर शूर्पणखा तो राम को पाना चाहती है, इसका अर्थ है कि वह ईश्वर को प्राप्त करना चाहती है। और भई ! ईश्वर को पाने की आकांक्षा तो बहुत ही उत्कृष्ट है। तथा दूसरी ओर रावण श्री सीताजी को पाना चाहता है, और सीताजी को पाने की इच्छा भी अत्यन्त श्रेष्ठ है क्योंकि जनकनन्दिनी को प्राप्त करने की इच्छा तो हनुमानजी में भी है, वे तो उनके अन्वेषण में महान परिश्रम करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यदि केवल वाह्य दृष्टि से विचार करें तो ऐसा लगेगा कि भगवान श्री राम और विदेहनन्दिनी श्री सीताजी की प्राप्ति की, आकांक्षा से बढ़कर हमारे जीवन का आदर्श क्या होगा ? पर प्रश्न यह है कि शूर्पणखा से पहले अगणित स्त्रियाँ क्या प्रभु की सुन्दरता पर मोहित नहीं हुईं, क्या उन्होने भगवान राम को पाने की चेष्टा नहीं की ? क्या उन्होंने श्री राघवेन्द्र को नहीं पाया ? और जब वे सब स्त्रियाँ प्रभु को प्राप्त करती हैं तब यदि शूर्पणखा ने भी श्री राम को प्राप्त करने की चेष्टा की, तो इसमें उसका क्या अपराध है ? और शूर्पणखा प्रभु को प्राप्त करने में असमर्थ क्यों होती है। वह केवल असमर्थ ही नहीं होती अपितु श्री राघवेन्द्र को पाने की चेष्टा में अपने नाक, कान भी गँवा बैठती है। और इसी तरह से दूसरा पात्र है रावण, जो विदेहनन्दिनी को पाना चाहता है, तथा कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि जैसे सीताजी उसे मिल गयीं, पर वस्तुतः सीताजी तो उसे प्राप्त हुईं ही नहीं उलटे अपनी लंका का सर्वनाश अवश्य करा बैठा। लेकिन प्रश्न तो यह है कि इन दोनों पात्रों के जीवन से हम क्या अर्थ ग्रहण करते हैं ? गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि भाई ! केवल ईश्वर को पाने का संकल्प होना ही यथेष्ट नहीं है, जीवन में शान्ति को प्राप्त करने की आकांक्षा होना मात्र ही सब कुछ नहीं है, अपितु हम यह देखने की चेष्टा करें कि कहीं शूर्पणखा और रावण की तरह भ्रान्त

मार्ग ही तो हमने नहीं अपना लिया है? इन दोनों पात्रों की त्रुटि क्या है इसकी ओर कभी आपने ध्यान दिया। शूर्पणखा की समस्या यह है कि वह राम को तो पाना चाहती है पर सीताजी को मिटाकर। सीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं। और इसका अभिप्राय है कि जो व्यक्ति भक्ति को मिटाकर ईश्वर को पाने की चेष्टा करेगा उसकी वही दशा होगी जो कि शूर्पणखा की हुई। और रावण जैसे अनेक योगी प्रत्येक युग में हुए हैं, तथा इस युग में भी कुछ देखे जाते हैं। योग का सीधा सा अर्थ है सीताजी को पा लेना। जनकजी ने पहले सीताजी को प्राप्त किया और उसके पश्चात सीताजी के माध्यम से ही उन्होंने साक्षात् श्री राम को भी पा लिया। इसका तात्पर्य यह है कि योगाभ्यास के द्वारा पहले तुरीयावस्था की प्राप्ति तथा अन्त में ईश्वर का साक्षात्कार। इस प्रकार जनक एक ऐसे महान योगी हैं जिन्होंने तुरीय और ब्रह्म दोनों को एक साथ पा लिया। पर रावण ऐसा योगी है जो तुरीयावस्था को तो पाना चाहता है पर ईश्वर को प्राप्त करने की आकांक्षा उसके जीवन में नहीं है। अपितु वह तो ईश्वर को मिटाकर केवल भौतिक चमत्कारों के लिए ही तुरीयावस्था को प्राप्त करना चाहता है। और यदि केवल इसी दृष्टि से विचार करें कि चमत्कार आ जाना ही योगी के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है तब तो ऐसा प्रतीत होगा कि रावण बहुत बड़ा योगी था। क्योंकि योगियों की प्रशंसा जब लोग करेंगे तो कह देंगे कि अमुक योगी तो दो सौ वर्ष के हैं, अथवा तीन सौ वर्ष के हैं। और रावण की आयु के विषय में तो आपने पढ़ा ही होगा कि वह कितनी लम्बी आयु प्राप्त करता है। तथा ऐसा लगता है कि वह अमरता के कितना निकट पहुँचा हुआ है। आप वर्णन पढ़ते ही हैं कि भगवान राम का वाण लगने के बाद भी रावण की मृत्यु नहीं हो रही है, और तब सीताजी त्रिजटा से पूछती हैं कि :—

रघुपति सर सिर कटेहुँ न मरई।
बिधि बिपरीत चरित सब करई।। ६।९८।५

उस समय त्रिजटा यही कहती है कि रावण की मृत्यु जो नहीं हो रही है उसमें रावण का चमत्कार नहीं है अपितु यह तो केवल आपका चमत्कार है। तब विदेहनन्दिनी ने पूछ दिया कि त्रिजटा! तुम कैसी बात कहती हो, मुझसे बढ़कर भला रावण की मृत्यु कौन चाहेगा? क्या मैं रावण को अमर बनाना चाहूँगी? पर त्रिजटा ने कहा कि देवि! आप जानकर नहीं, अपितु आपके अनजाने में ही आपसे शक्ति प्राप्त करके रावण अमरता के निकट

पहुँच चुका है। उसने कहा कि भगवान राम के सामने समस्या यह है कि जब तक वे सिर और भुजा के साथ-साथ रावण के हृदय पर प्रहार नहीं करेंगे तब तक रावण मरेगा नहीं। तब जनकनन्दिनी ने कहा कि फिर कठिनाई क्या है? क्योंकि प्रभु को एक ही वाण तो और चलाना है। तब त्रिजटा ने सीताजी को समझाया कि रावण अपने हृदय में निरन्तर आपका ध्यान करता है। और जब भगवान राम इकतीसवाँ वाण चलाने के लिए हृदय की ओर दृष्टि डालते हैं, तो वहाँ आपको देखकर प्रभु सोचते हैं कि इसके हृदय में तो जानकीजी का निवास है, और सीता के हृदय में मेरा निवास है, तथा मेरे उदर में सारा ब्रह्माण्ड है। अत: प्रभु को चिन्ता हो जाती है कि रावण को मारने से कहीं सारा ब्रह्माण्ड ही न नष्ट हो जाए। क्योंकि :—

एहि के हृदयँ बस जानकी जानकी उर मम बास है।
मम उदर भुअन अनेक लागत बान सब कर नास है ।। ६।९८।१४

इसका अभिप्राय यह है कि योग का अर्थ केवल आयु बढ़ा लेना अथवा अमरता पा लेना ही नहीं है। योग का फल बड़े-बड़े अमृत कुण्डों को प्राप्त कर लेना मात्र ही तो नहीं है। योग का फल तो वस्तुत: तुरीयावस्था के द्वारा हृदय में ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। किन्तु रावण ऐसा भटका हुआ योगी है जो सीताजी को तो पाना चाहता है, परन्तु श्री राम को अपना शत्रु मानता है। इसका तात्पर्य है कि रामचरितमानस में हमारे और आपके लिए दो सूत्र दिए गए हैं। उनमें रावण और शूर्पणखा का एक पक्ष है, तथा भगवान श्री राम, लक्ष्मण और बन्दरों का दूसरा पक्ष। इसी प्रकार से सीताजी का अन्वेषण मानो शान्ति का अन्वेषण है, तुरीय तथा भक्ति की खोज है। और उनकी खोज किस तरह से की जाती है; उसमें कैसे-कैसे विघ्न आते हैं, और किस प्रकार उन विघ्नों पर विजय प्राप्त की जाती है, इसकी चर्चा हम कल करेंगे, आज इतना ही।

"बोलिए सियाबर रामचन्द्र की जय"

श्री रामः शरणं मम

द्वितीय प्रवचन

जनक सुता कइ सुधि भामिनी ।
जानहि कहु करिवरगामिनी ।।
पंपा सरहि जाहु रघुराई ।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ।।
सो सब कहिहि देव रघुबीरा ।
जानतहूँ पूछहु मतिधीरा ।।
बार बार प्रभु पद सिरु नाई ।
प्रेम सहित सब कथा सुनाई ।।

कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदयँ पद पंकज धरे ।
तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ।।
नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू ।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू ।।
जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्हि असि नारि ।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि ।। ३।३६

आइए अब कुछ समय के लिए एकाग्र और शान्त चित्त से विदेहनन्दिनी श्री सीताजी के अन्वेषण की शाश्वत यात्रा का जो वर्णन श्री रामचरितमानस में किया गया है, उसको हृदयङ्गम करने की चेष्टा करें। उस यात्रा में कौन-कौन सी कठिनाइयाँ आती हैं, और उनको पार करके विदेहनन्दिनी तक कैसे पहुँचा जाता है, इसका बड़ा मार्मिक संकेत किया गया है। कल

आपके सामने इस प्रसङ्ग की भूमिका रखी जा रही थी, आज हम उसी क्रम को आगे बढ़ाने की चेष्टा करेंगे।

दण्डकारण्य में विदेहनन्दिनी का हरण हो जाने के पश्चात्, भगवान श्री राघवेन्द्र शबरीजी के आश्रम में आते हैं। वहाँ पर उनके द्वारा अर्पित किए हुए मधुर तथा सुस्वादु फलों का रसास्वादन करने के बाद वे उनके समक्ष नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं। तथा अन्त में वे उनसे प्रश्न करते हुए कहते हैं कि, "प्रकाशमयी शबरी! आप मुझे कृपा करके यह बताइए कि विदेहनन्दिनी को पुनः प्राप्त करने का क्या उपाय है?" वस्तुतः भगवान श्री राघवेन्द्र जनकनन्दिनी को जिस उपाय से खोजते हैं वह व्यक्ति के जीवन का शाश्वत सत्य है, क्योंकि श्री सीताजी वेदान्त की भाषा में मूर्तिमती शान्ति हैं, योग की भाषा में वे साक्षात् तुरीयावस्था है, तथा भक्तों ने जनकनन्दिनी को साक्षात् पराभक्ति के रूप में देखा, और पुराणों में उनका वर्णन महालक्ष्मी के रूप में किया गया है। इसकी विस्तृत चर्चा तो मैं कल आपके सामने कर ही चुका हूँ। किन्तु आज संकेत के रूप में केवल इतना ही कहूँगा कि यह जो सर्वरूपा श्री सीता हैं, उन्हीं को किसी न किसी रूप में प्राप्त करने की चेष्टा में हम और आप लगे हुए हैं। किन्तु इसमें भी दो पक्ष दिखाई देते हैं। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं कि जनकनन्दिनी की खोज में भटक जाते हैं, जैसे कि रावण। जिसके जीवन में यह दिखाई देता है कि उसने सीताजी को पा लिया है, पर उसके बाद भी जो विदेहनन्दिनी की कृपादृष्टि पाने में सफल नहीं हुआ। तथा कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो जनकनन्दिनी की खोज में चलते तो हैं, किन्तु कहीं बीच में ही अटक जाते हैं। बन्दरों की गाथा, कुछ इसी प्रकार की है। बन्दर सीताजी की खोज में चलते तो हैं पर वे लंका तक पहुँच कर अशोक वाटिका में श्री जानकीजी का दर्शन करने में समर्थ नहीं हुए तथा समुद्र के किनारे ही अटक जाने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यह शान्ति और शक्ति की खोज में जो अटकाव तथा भटकाव है, उसका क्या स्वरूप है, तथा उस अटकाव और भटकाव को किस प्रकार दूर किया जा सकता है? गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में इसका बड़ा ही सूक्ष्म संकेत प्रस्तुत किया है। आइए आप और हम इस प्रसङ्ग की पृष्ठभूमि पर विचार करें।

श्री सीताजी के अन्वेषण का प्रसङ्ग प्रारम्भ होता है दण्डकारण्य से, और उसकी समाप्ति होती है अशोक वाटिका में। यह दण्डकारण्य से अशोक वाटिका तक की जो यात्रा है तथा यहाँ पर सीताजी और भगवान राम की इस दूरी के पीछे निहित तत्व क्या है? तथा इसका जो एक द्वितीय पक्ष और भी है, उसकी ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करूँगा। इस दण्डकारण्य

तथा अशोक वाटिका की तुलना में एक वाटिका तथा एक वन ऐसा भी है, जो इन दोनों के मिलन की भूमिका सम्पन्न कराता है। जिस वाटिका में, सबसे पहले भगवान राम और श्री सीताजी का दिव्य मानसिक मिलन होता है, वह है महाराज श्री जनक की "**पुष्प वाटिका**"। तथा जिस वन में जाकर श्री सीताजी और भगवान राम आनन्द तथा रसमय रूप में निवास करते हैं यह वन है "**चित्रकूट**" का। पुष्प वाटिका में उनका मिलन होता है और चित्रकूट में इस प्रेम और आनन्द की परिपूर्णता का साक्षात्कार होता है। गोस्वामीजी ने इसका एक सूक्ष्म संकेत रामचरितमानस में किया है। उनसे पूछा गया, जब अयोध्या के वैभव का परित्याग करके चित्रकूट की वनस्थली में विदेहनन्दिनी रही होंगी, तब क्या उन्हें अयोध्या की स्मृति आती होगी? तब अयोध्या के सुख का अभाव उन्हें खलता होगा कि नहीं? क्योंकि वहाँ अभाव तो अवश्य ही रहा होगा? चित्रकूट में जनकनन्दिनी को कैसा सुख प्राप्त हुआ उसकी तुलना करते हुए वे कहते हैं कि :—

सिय मनु राम चरन अनुरागा।
अवध सहस सम बनु प्रिय लागा॥ २।१३९।४

हजारों अयोध्या की तुलना में उन्हें चित्रकूट में अधिक सुख की अनुभूति हुई। इस प्रकार एक वाटिका और वन ऐसा है, जिसमें मिलन की लीला सम्पन्न की गई है। इस वाटिका तथा वन का तात्पर्य क्या है? अब जरा इस पर भी थोड़ा ध्यान दें।

जनकपुर में यह जो पुष्प वाटिका आपको दिखाई दे रही है, यह तो सत्संग की प्रतीक है, जहाँ पर संत समाज ही वृक्ष के रूप में परिलक्षित हो रहा है। और इस वाटिका में श्रद्धा रूपा पार्वतीजी का मन्दिर भी बना हुआ है, जिन पार्वतीजी का पूजन करने के पश्चात ही सीताजी का भगवान श्री राम से मिलन होता है। गोस्वामीजी से पूछा गया कि विदेहनन्दिनी श्री सीता तथा भगवान राम का मिलन कहाँ होगा? तब उन्होंने कहा कि यदि हम और आप अपने जीवन में भक्ति और भगवान के मिलन की आकांक्षा करते हैं, हमारे जीवन में यदि शान्ति और ईश्वर को एकत्र करने की इच्छा है, तो हमें अपने अन्तःकरण का निर्माण महाराज श्री जनक की वाटिका की तरह करना चाहिए। वाटिका में प्रविष्ट होने तथा पार्वतीजी की आराधना का तात्पर्य यह है कि जब हमारे अन्तःकरण में सत्संग के साथ-साथ श्रद्धा का उदय होता है तब उसमें भक्ति और भगवान का मिलन होता है। इस प्रकार मानो सत्संग ही यह पुष्प वाटिका है।

चित्रकूट के वन का तात्विक स्वरूप बताते हुए गोस्वामीजी ने कहा कि जिस प्रकार बाहर चित्रकूट है, ठीक उसी प्रकार एक चित्रकूट व्यक्ति के अन्तःकरण में भी है। वे कहते हैं कि चित्रकूट में **नदी, पर्वत** और **वन** यह तीन वस्तुएँ हैं। और यह तीनों वस्तुएँ जिस व्यक्ति के अन्तःकरण में विद्यमान हैं, उसका हृदय तो मानो चित्रकूट बन ही चुका है। किन्तु वे तीन वस्तुएँ कौन सी हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा कि :—

रामकथा मन्दाकिनी १।३१

चित्रकूट में मन्दाकिनी नदी का प्रवाह है, और जिसके अन्तःकरण में रामकथा का रस प्रवाहित हो रहा है, वही मानो उसके हृदय में मन्दाकिनी नदी बह रही है।

दूसरी वस्तु है **"चित्रकूट चित चारु"**

उन्होंने कहा कि चित्रकूट पर्वत बड़ा दृढ़ है, अडिग है, और इसका तात्पर्य है कि जिसका चित्त अडिग है, चंचल नहीं है, वासना और संस्कारों से जिसका चित्त आक्रान्त नहीं है, उस व्यक्ति का चित्त ही चित्रकूट पर्वत है। तथा तीसरी वस्तु है "वन"। और वन के लिए कहा गया है कि **"प्रेम ही वन है।"**

तुलसी सुभग सनेह बन २।३१

इसका अभिप्राय है कि जैसे चित्रकूट में प्रभु और श्री किशोरी विहार करते हैं, उसी प्रकार से जिस व्यक्ति के हृदय में इन तीनों वस्तुओं का सामञ्जस्य होगा, उसके अन्तःकरण में भी भगवान श्री राम और श्री सीताजी का निवास होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि साधना का क्रम सत्संग से लेकर प्रेम तक है। जिस प्रकार श्रद्धामयी वाटिका से भगवान राम और सीताजी के मिलन की भूमिका प्रारम्भ हुई, तथा चित्रकूट के प्रेम रूपी वन में जाकर उसमें परिपूर्णता आ गई। वैसे ही हमारे अन्तःकरण में जब श्रद्धा और सत्संग का प्राकट्य होगा, तब हमारे हृदय में भी भक्ति और भगवान का आगमन होगा। और जब अन्तःकरण प्रेम से परिप्लावित हो जाता है, तब उसमें भगवान श्री राम और श्री सीताजी का विहार होने लगता है। लेकिन यह तो जीवन का एक पक्ष है क्योंकि महाराज श्री जनक की वाटिका तथा चित्रकूट के वन की तुलना तो विरले व्यक्तियों के अन्तःकरण से ही की जा सकती है। किन्तु इसकी तुलना में एक वन तथा

एक वाटिका और भी है। और वह वन है दण्डकारण्य का तथा वाटिका है रावण की। तो आइए इस वन और वाटिका के स्वरूप पर भी आप जरा गहराई से विचार करें, जिस वन में भगवान राम तथा श्री सीताजी का वियोग होता है।

यह दण्डकारण्य का वन बड़ा विचित्र एवं अद्भुत है। और हम यह कह सकते हैं कि भई ! पुष्प वाटिका तथा चित्रकूट के वन का तो साधना के बाद अन्तःकरण में निर्माण होता है, पर दण्डकारण्य और अशोक वाटिका तो हमलोगों के हृदय में सर्वदा ही बने रहते हैं। जब उनसे पूछा गया कि दण्डकारण्य और अशोक वाटिका का स्वरूप क्या है ? तो गोस्वामीजी ने कहा कि मेरी दृष्टि में वन का प्रतीक एक तो प्रेम है और दूसरा संशय। प्रेम रूपी वन की चर्चा तो अभी आपके सामने की ही जा चुकी है, किन्तु लंकाकाण्ड में वे इसके दूसरे रूप का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि :—

संसय बिपिन अनल सुररंजन। ६।११४।१

उन्होंने कहा कि संदेह ही वन है। इसका अभिप्राय है कि यदि हमारे हृदय में संशय उत्पन्न हो जाए, तो समझ लेना चाहिए कि हमारे हृदय की मनोमयी भूमि में दण्डकारण्य बन चुका है। और जिस वाटिका में रावण जगज्जननी को बन्दी बनाकर रखता है वह रावण की वाटिका है। रावण को वे मूर्तिमान मोह के रूप में स्वीकार करते हैं। विनयपत्रिका में उन्होंने रावण के आध्यात्मिक स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा कि :—

"मोह दसमौलि" तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित काम बिश्रामहारी।

अशोक वाटिका का अभिप्राय है मोह की वाटिका। और अरण्यकाण्ड के अन्त में तो गोस्वामीजी वन की तुलना मोह से ही करते हैं।

मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता।। ३।४३।१

इसका अभिप्राय यह हुआ कि एक ओर यदि हमारे अन्तःकरण की यात्रा सत्संग से लेकर प्रेम के वन तक की है, तो दूसरी ओर हमारे संस्कार संशय से प्रारम्भ होकर अन्त में मोह के रूप में परिणत हो जाते हैं। संशय से लेकर मोह तक की यह जो यात्रा है इसमें भक्ति और भगवान, शान्ति और

ईश्वर में दूरी उत्पन्न होने का सीधा क्रम दिखाई देता है। अब आप इसकी पृष्ठभूमि पर थोड़ा विचार करें।

इस दण्डकारण्य में दो पात्र ऐसे हैं जिनका लक्ष्य बुरा नहीं है। यह दोनों पात्र हैं रावण तथा शूर्पणखा। और आप एक विलक्षण सी बात यह देखेंगे कि रावण और शूर्पणखा दोनों ने दण्डकारण्य में ही अपना लक्ष्य प्राप्त करने की चेष्टा की। शूर्पणखा श्री राम को पाना चाहती है। श्री राम साक्षात् ईश्वर हैं और ईश्वर को प्राप्त करने की अभिलाषा सर्वोत्कृष्ट अभिलाषा है, जीवन का चरम लक्ष्य है। तथा कुछ क्षणों के लिए ऐसा लगता भी है कि वह दण्डकारण्य में प्रभु के अत्यन्त निकट पहुँच जाती है। किन्तु निकट पहुँच कर भी वह श्री राम से बहुत दूर हो जाती है। तथा उसे दण्डित भी होना पड़ता है। और श्री रामचरितमानस का दूसरा पात्र है, शूर्पणखा का भाई रावण। उसका भी लक्ष्य उन्हीं श्री सीताजी को पाना है, जिनको प्राप्त करने के लिए बन्दर अपने प्राणों की बाजी भी लगा देते हैं। इन दोनों भाई-बहनों ने अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए दण्डकारण्य की जो भूमि चुनी, वह संशय की भूमि है। तथा इन दोनों की मनोवृत्ति में एक अन्तर बड़े महत्त्व का है।

श्री रामचरितमानस में यह संकेत आता है कि शूर्पणखा भगवान श्री राघवेन्द्र के पास विवाह का प्रस्ताव लेकर जाती है, किन्तु विवाह का प्रस्ताव करना कोई अनुचित कार्य है क्या? और भई! विवाह का प्रस्ताव तो कोई बुरा नहीं है। किन्तु विवाह के सन्दर्भ में लोग यह अवश्य विचार करते हैं कि सामने वाले व्यक्ति के द्वारा प्रस्तावित यह विवाह सम्बन्ध हम स्वीकार करें कि नहीं? विवाह का प्रस्ताव जब आता है तब लोग कई कसौटियों के आधार पर उसे परखते हैं। कोई धन की ओर देखता है, तो कोई रूप की ओर, और कोई यश की ओर देखता है। इसी प्रकार से अलग-अलग मनोवृत्ति के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता देखते हैं। एक प्रसिद्ध दोहा है जिसमें यह बताया गया है कि विवाह के प्रसङ्ग में बहुधा वर और कन्या तो सुन्दरता को अधिक महत्त्व देते हैं। कन्या चाहती है कि मुझे जो पति मिले वह अत्यन्त सुन्दर हो तथा वर चाहता है कि मुझे सुन्दर पत्नी प्राप्त हो।

"दम्पति रूपहिं, .

और दोनों ओर की माताओं की दृष्टि विशेष रूप से धन की ओर रहती है। कन्या की माता सोचती है कि अगर वर पक्ष धनी होगा तो हमारी कन्या सुखी रहेगी। और वर की माता के मन में यह रहता है कि यदि

कन्या पक्ष धनी रहेगा तो हमें दहेज अच्छी मात्रा में प्राप्त होगा। इसीलिए कहा गया है कि :—

दम्पति रूपहिं "मातु धन"

तथा दोनों ओर के पिता प्रतिष्ठा को अधिक महत्त्व देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि हमारा समधी इतना यशस्वी हो कि जिससे सम्बन्ध बनाकर हमारा भी गौरव बढ़े।

दम्पति रूपहिं मातु धन "पिता नाम बिख्यात"

और जो बन्धु-बान्धव हैं उनकी दृष्टि बहुधा इसी ओर जाती है कि कुल पवित्र है या नहीं ?

"उत्तम कुल बान्धव चहैं"

और फिर अन्त में बारात की रुचि पर व्यंग्य करते हुए कहा गया कि :—

दम्पति रूपहिं मातु धन, पिता नाम बिख्यात।
उत्तम कुछ बान्धव चहहिं ....

और :—

"भोजन चहहिं बरात"

कवि ने कहा कि भई ! बाराती तो यही देखते हैं कि उनका स्वागत, सत्कार कैसा किया गया, **"भोजन कैसा परोसा गया"** ? यद्यपि सांसारिक व्यवहार के लिए यह दोहा सार्थक है, पर शूर्पणखा के सन्दर्भ में यदि इसे देखना चाहें तो प्रश्न यह उठता है कि कौन सी विशेषता देखकर ईश्वर जीव को स्वीकार करता है ? क्या वह धन देखकर जीव को स्वीकार करता है, अथवा सुन्दरता, कुल देखकर उसे अपनाता है ? और इस प्रश्न का उत्तर भगवान राम, शबरीजी के समक्ष देते हैं। यहां पर दो बातें विशेष महत्त्व देने की हैं। एक तो भगवान राम ने उन शबरीजी से, सीताजी का पता पूछा जिन्होंने विदेहनन्दिनी को कभी देखा ही नहीं था। और दूसरा

अनोखापन यह है कि जिस समय प्रभु ने जनकनन्दिनी के विषय में प्रश्न किया, उस समय शबरीजी के लिए उन्होंने दो विशेषण लगाए। तथा विशेषण के वे दोनों शब्द इतने अटपटे हैं कि आजकल के जो विद्वान हैं, उनके मन में बड़ा आश्चर्य होता है कि भगवान श्री राघवेन्द्र ने शबरीजी के लिए इन शब्दों का प्रयोग क्यों किया? और वे दो शब्द क्या हैं? उनका संकेत करते हुए गोस्वामीजी रामचरितमानस में कहते हैं कि प्रभु ने शबरीजी से कहा कि :—

जनक सुता कइ सुधि भामिनी।
जानहि कहु करिवरगामिनी।। ३।३५।१०

प्रभु ने शबरीजी के लिए एक तो **'गजगामिनी'** शब्द कहा, और दूसरा **'भामिनी'**। यह दोनों शब्द बहुधा सौन्दर्य और श्रृङ्गार रस के सन्दर्भ में प्रयुक्त किए जाते हैं। यदि कोई परमसुन्दरी रमणी है तो उसे भामिनी कहा जाता है। और गजगामिनी शब्द का तात्पर्य भी शुद्ध श्रृङ्गारमूलक है। किन्तु भगवान राम शबरीजी से अपनी जिज्ञासा प्रकट करते समय उनकी सुन्दरता का वर्णन क्यों करते हैं? यद्यपि शबरीजी वृद्ध भी थीं। और उन वृद्धा शबरीजी को देखकर भगवान राम ने जो **"भामिनी"** और **"गजगामिनी"** शब्द कहे, इसके पीछे निहित तात्पर्य क्या है? वस्तुतः भगवान श्री राघवेन्द्र के द्वारा यही शब्द सुनने की व्यग्रता किसी दूसरे पात्र के मन में थी, परन्तु भगवान राम ने उसके लिए यह दोनों शब्द प्रयुक्त नहीं किए। और जिस पात्र के सम्बन्ध में यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि उसके लिए यह शब्द भी कहा जा सकता है, प्रभु ने उसी पात्र के लिए वे शब्द कहे। जिस पात्र के मन में भगवान श्री राम के द्वारा इन शब्दों को सुनने की लालसा थी, वह है शूर्पणखा। वह दण्डकारण्य में श्री राघवेन्द्र तथा लक्ष्मण के सौन्दर्य को देखकर मोहित हो जाती है, और सोचती है कि अगर मैं भी सुन्दरी बन कर जाऊँगी तो यह राजकुमार मेरी ओर अवश्य आकृष्ट होंगे। और फिर शूर्पणखा माया के द्वारा अपने को सुन्दरी के रूप में परिवर्तित करके श्री राम के पास जाती है। जब वह अपने को सुन्दर रूप में परिवर्तित कर रही थी, तब उसके मन में यह धारणा थी कि मेरे सौन्दर्य पर आकृष्ट होकर ही राम मुझे स्वीकार करेंगे। इसलिए उसने अपनी वास्तविक कुरूपता को छोड़कर नकली सुन्दरता के द्वारा श्री राम को अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा की। और शूर्पणखा के मन में यह आकांक्षा भी रही होगी कि राम मेरे सौन्दर्य की प्रशंसा करें। क्योंकि जो व्यक्ति सुन्दर

होता है, अथवा जिसके अन्तःकरण में अपने को सजाने की वृत्ति है उसकी स्वाभाविक मनोवृत्ति दूसरे के मुख से अपनी प्रशंसा सुनने की होती है। अगर भौतिक दृष्टि से देखिए तो वह लंकापति की बहन है। वह स्वर्णमयी लंका जहाँ चारों ओर सोना ही सोना है। इतना ही नहीं रावण यदि किसी के प्रति आदर की भावना रखता है, तो वह एक मात्र शूर्पणखा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि रावण जैसे सत्ताधीश की बहन होने के नाते उसके पास सत्ता भी है। स्वर्णमयी लंका के नाते ऐश्वर्य भी है। तथा अपने को सजाकर जाने का तात्पर्य है कि वह सौन्दर्य भी लेकर आती है। और तब स्वाभाविक रूप से उसके मन में यह भावना थी कि इस विवाह सम्बन्ध को अस्वीकार करने की तो कोई बात ही नहीं हो सकती है। और यदि यह कहा जाय कि शूर्पणखा, श्री राम के सौन्दर्य पर मोहित हो गई तो रामचरित-मानस की भाषा में यह कोई अपराध नहीं है। क्योंकि श्री राम के सौन्दर्य के प्रति मोहित होने का वर्णन तो अनेकों प्रसंगों में किया गया है। जनकपुर वासिनी स्त्रियों ने अपने-अपने भवन के झरोखों से जब प्रभु के सौन्दर्य को देखा तो देखती ही रह गईं। गोस्वामीजी ने उस अवसर का बड़ा सम्मोहक चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा कि :—

जुबतीं भवन झरोखन्हि लागीं।
निरखहिं राम रूप अनुरागीं।।
कहहिं परसपर बचन सप्रीती।
सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती।।
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं।
सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं।। १।१२९।६

इस प्रकार प्रत्येक जनकपुर वासी नारी के मुख से भगवान श्री राघवेन्द्र के सौन्दर्य का वर्णन किया जा रहा है। किन्तु जनकपुर वासी उन स्त्रियों ने श्री राम को पाया कि नहीं, जिन्होंने उनके सौन्दर्य की सराहना की? और भई! यह तो नगर की नागरी स्त्रियाँ हैं। किन्तु जब प्रभु चित्रकूट की ओर प्रस्थान करते हैं, तब मार्ग में पड़ने वाले गाँवों की जो स्त्रियाँ हैं, उनकी भावना का गोस्वामीजी बड़ा ही मधुर चित्र प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने कहा कि श्री राम का सौन्दर्य देखकर वे स्त्रियाँ चकित रह जाती हैं। उनके मन में प्रभु के प्रति कितनी उत्कृष्ट भावना विद्यमान है, इसका रामचरितमानस में बड़ा ही अद्भुत वर्णन है। यदि यह कहा जाय कि उन स्त्रियों ने प्रभु को प्राप्त कर लिया कि नहीं तो उसके लिए गोस्वामीजी बड़ा ही सांकेतिक शब्द

चुनते हैं। साहित्य में दो शब्द बहुधा प्रयुक्त किए जाते हैं, एक है **"गँवार"** और दूसरा **"नागर"**। यह दोनों शब्द **"गाँव"** तथा **"नगर"** से बने हैं। गँवार शब्द का मूल है गाँव और नागर शब्द की सृष्टि नगर से हुई है। क्या इसका अभिप्राय यह हुआ कि नगर में रहने वाले बुद्धिमान तथा चतुर होते हैं और गाँव के निवासियों में चतुरता नहीं होती है? और गोस्वामीजी ने सबसे अनोखा प्रश्न यह उठाया कि ईश्वर की प्राप्ति चतुर को होगी अथवा गँवार को? जनकपुरवासी स्त्रियों ने प्रभु को प्राप्त किया, इसका अर्थ है कि चतुर ही भगवान श्री राम को पाते हैं, किन्तु जब ग्रामवासी स्त्रियों ने भी उन्हें पा लिया तो ऐसा लगा कि नहीं-नहीं गँवार भी प्रभु को पा सकता है। यद्यपि गाँव की स्त्रियों ने श्री सीताजी को अपना परिचय भी कुछ अनोखे रूप में ही दिया। जब श्री किशोरीजी ने उनसे पूछा कि आपका परिचय? तो उन्होंने कहा कि हमारा परिचय तो बड़ा सीधा सा है। अगर हमसे कोई भूल हो जाए तो उस परिचय को दृष्टिगत रखकर आप बुरा न मानें। और वह परिचय बताते हुए वे कहती हैं कि :—

बिलगु न मानब जानि गँवारी ॥ २।११५।७

हम तो गँवारियाँ हैं, और गँवारों से कोई भूल हो जाती है तो क्षम्य मानी जाती है, इसलिए हमलोगों के व्यवहार में आपको कोई ग्राम्य दोष दिखाई दे तो आप उसे क्षमा कीजिएगा। इस प्रकार जिन्होंने "गँवारी" के रूप में अपना परिचय दिया, गाँव की उन स्त्रियों ने भी प्रभु को प्राप्त कर लिया। लेकिन सबसे अटपटापन यह है कि इतने उत्कृष्ट आकर्षण और सत्ता की स्वामी होने के साथ-साथ लंका जैसे महानगर की रहने वाली शूर्पणखा उन्हें प्राप्त करने में समर्थ न हो सकी। श्री राम को प्राप्त करना तो दूर, अपने सौन्दर्य की सराहना में जो शब्द वह सुनना चाहती थी, वह शब्द भी प्रभु ने शूर्पणखा के संदर्भ में न कहकर दण्डकारण्य में रहने वाली शबरी के लिए प्रयुक्त कर दिया। इसका अभिप्राय क्या है?

आगे चलकर यह वर्णन आता है कि भगवान श्री राम को देखकर शबरीजी अपनी विनम्रता के कारण संकोच में गड़ गईं। उनको ऐसा लगने लगा कि कहाँ तो साक्षात् परब्रह्म श्री राम, तथा कहाँ मैं बनवासिन जंगली नारी। मैं किन शब्दों में इनकी स्तुति करूँ? मैं तो इनको प्राप्त करने की अधिकारी नहीं हूँ। और तब शबरीजी ने बड़े संकोच भरे शब्दों में प्रभु से कहा, महाराज! मैं आपसे क्या कहूँ? क्योंकि :—

अधम ते अधम, अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥ ३।३४।३

उन्होंने कहा प्रभु ! मैं तो अत्यन्त दीन-हीन हूँ :—

केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी।
अधम जाति मैं जड़मति भारी॥ ३।३४।२

इन शब्दों में शबरीजी ने बड़ी विनम्रता से अपने को तुच्छ प्रगट किया। शबरीजी का यह वाक्य सुनकर भगवान श्री राम ने कहा :—शबरी ! तुमने जो अपनी कमी बताई है उस कमी का महत्त्व संसार वालों की दृष्टि में हो सकता है पर तुम तो जानती ही हो कि मैं जब भी किसी से नाता जोड़ता हूँ, तब मैं दस वस्तुओं को नहीं देखता। प्रभु ने कहा कि सबसे पहले तो मैं यह नहीं देखता कि सामनेवाला किस जाति का है, कुल भी नहीं देखता और न ही यह देखता हूँ कि वह धर्मात्मा है अथवा नहीं ? और तब भगवान श्री राघवेन्द्र वे दस वस्तुएँ गिनाते हुए कहते हैं कि :—

जाति[१] पाँति[२] कुल[३] धर्म[४] बड़ाई[५]।
धन[६] बल[७] परिजन[८] गुन[९] चतुराई[१०]॥ ३।३४।५

अगर आप ध्यान से देखें तो जिन वस्तुओं को भगवान राम ने गिनाया उनमें से अधिकांश वस्तुएँ लंका में उपलब्ध थीं ; जाति-पाँति की दृष्टि से तो शूर्पणखा बड़े उत्कृष्ट कुल में जन्म लेती है ; और आज शबरीजी से वार्तालाप करते हुए भगवान राम को शूर्पणखा और शबरी के व्यक्तित्त्व की तुलनात्मक स्थिति स्मरण हो आई, और तब भगवान श्री राघवेन्द्र ने कहा कि सम्बन्ध स्वीकार करते समय दस वस्तुओं को मैं महत्त्व नहीं देता। इसमें प्रभु का प्रतीकात्मक व्यंग्य यह था कि लंका का स्वामी रावण भी तो दशमुख है। और केवल दशमुख ही नहीं है अपितु रामचरितमानस में तो यह लिखा गया है कि लंका में दस वस्तुओं की दिन रात वृद्धि हो रही है ; और वे वस्तुएँ गिनाते हुए कहा गया कि :—

सुख[१] संपति[२] सुत[३] सेन[४] सहाई[५]।
जय[६] प्रताप[७] बल[८] बुद्धि[९] बड़ाई[१०]॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई। १।१७९।२

इसलिए प्रभु ने शबरी के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया कि अगर कोई व्यक्ति इन दस वस्तुओं के माध्यम से सम्बन्ध जोड़ना चाहता है तो वह दसमुख से ही नाता जोड़ सकता है, मुझसे नहीं ; भगवान राम के व्यंग्य में तीखापन यह था कि भई ! व्यक्ति में यदि एक भी विशेषता हो तो वह अपने आपको विशिष्ट मान लेता है, किन्तु जिसमें दस-दस विशेषताएँ होंगी उसके अहंकार का क्या ठिकाना ? प्रभु का तात्पर्य है कि मैं दस वस्तुओं के द्वारा किसी से सम्बन्ध नहीं स्वीकार करता। शबरीजी ने जिज्ञासा प्रकट की कि महाराज ! तब आप क्या देखकर नाता जोड़ते हैं ? और तब भगवान ने कहा शबरी ! मैं तो केवल एक ही वस्तु देखकर नाता जोड़ता हूँ। उस वस्तु का उल्लेख करते हुए प्रभु ने कहा कि :—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानउँ एक भगति कर नाता ॥३।३४।४

मैं तो यह देखता हूँ कि सामने वाले व्यक्ति के अन्तःकरण में भक्ति है कि नहीं ? इसका अभिप्राय है कि ईश्वर से अगर नाता जोड़ना है, तो एक मात्र भक्ति के माध्यम से ही जुड़ेगा, और किसी भी नाते को ईश्वर स्वीकार नहीं करेगा। यही सूत्र आपको प्रत्येक प्रसङ्ग में मिलेगा। यदि जनकपुरवासी स्त्रियों ने श्री राम को प्राप्त किया तो किस नाते से ?

संकेत के रूप में आपको यही सूत्र वहाँ पर भी मिलेगा।

श्री राम की सुन्दरता देखकर, जनकपुरवासी स्त्रियाँ मोहित हो जाती हैं, उनके सौन्दर्य की सराहना करती हैं। किन्तु क्या केवल वासना की दृष्टि से ही वे श्री राम के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती हैं, क्या शूर्पणखा की तरह ही उनके मन में प्रभु के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है ? लेकिन नहीं-गोस्वामी जी ने कहा कि जितनी जनकपुरवासिनी स्त्रियाँ हैं, उन सबके मन में केवल एक ही बात आई। प्रत्येक स्त्री ने कहा कि राम कितने सुन्दर हैं ? मन होता है कि यदि एक कार्य हो जाता तो कितना अच्छा होता। तब वे स्त्रियाँ अपने मन की अभिलाषा प्रकट करते हुए कह रही हैं कि :—

जौं सखि इन्हहि देख नरनाहू।
पन परिहरि हठि करइ बिबाहू ॥ १।१२१।२

अगर सीता और राम का विवाह हो जाता तो कितना अच्छा होता। गोस्वामीजी से किसी ने पूछा कि यह तो बड़ी विलक्षण बात है। क्योंकि,

भगवान श्री राम के सौन्दर्य पर मुग्ध तो स्वयं हुईं और विवाह कराना चाहती हैं श्री सीताजी से, इसका तात्पर्य क्या है ? तब उन्होंने कहा कि भाई ! यही तो श्री राम से नाता जोड़ने का उपाय है। और जो शब्द शबरीजी के समक्ष प्रभु ने कहा ठीक वही शब्द इन स्त्रियों ने भी कहा। आप दोनों के वाक्यों को मिलाकर देख लें। भगवान राम का वाक्य है :—

मानउँ एक भगति कर नाता ॥ ३।३४।४

और जनकपुरवासी स्त्रियाँ परस्पर एक दूसरे से कहती हैं कि सखि ! कितना अच्छा हो कि जब बार-बार राम जनकपुर में आते रहें, तथा बार-बार इनके सौन्दर्य का साक्षात्कार करके हमारे नेत्र धन्य होते रहें। और इसका उपाय एक मात्र यही है कि :—

कबहुँक ए आवहिं एहि नाते ॥ १।२२१।८

उसने कहा कि अगर श्री सीता से राम का विवाह हो जाएगा तब तो इनके आने जाने की परम्परा प्रारम्भ हो ही जाएगी। तो दूसरी सखी ने कहा कि जब विवाह हो जाएगा तब तो श्री सीता भी राम के साथ ही चली जाएँगी, तो पहली सखी ने उसे समझाया कि विवाह होने के बाद जैसे प्रत्येक पिता अपनी कन्या को पुनः बुलाता है, उसी प्रकार हमारे महाराज जनक भी सीताजी को अवश्य ही बुलाएँगे :—

बारहिं बार सनेह बस जनक बोलाउब सीय। १।३१०

और यह जनकपुरवासी स्त्री बड़ी दूर तक सोचती है। उसने कहा कि जब-जब महाराज श्री जनक, श्री सीताजी को यहाँ बुलावेंगे, जानती हो तब-तब क्या होगा ? तो उसने कहा कि :—

लेन आइहहिं बंधु दोउ। १।३१०

जितनी बार श्री किशोरीजी जनकपुर में आवेंगी, उतनी बार इन दोनों को भी आना होगा। और वह दावा करती है कि यही आएँगे तथा एक नहीं **"दोनों आएँगे"**। यद्यपि यह नियम नहीं है कि वधू को लेने के लिए सदा वर ही आए ; पर जनकपुरवासी इस स्त्री ने तो कहा कि मैं दावे के

साथ कह सकती हूँ कि श्री राम और लक्ष्मण ही आएँगे। उसका तर्क यह था कि सखि! जब बिना विवाह और बिना निमन्त्रण के ही यह दोनों राजकुमार जनकपुर में चले आए, तो क्या विवाह होने के पश्चात निमन्त्रण देने पर भी नहीं आएँगे? और जब यह बार-बार श्री सीताजी को लेने आवेंगे तब होगा क्या—तो उसने कहा :—

तब तब राम लखनहि निहारी।
होइहहिं सब पुर लोग सुखारी॥ १।१३०।२

तो पहली स्त्री ने पूछा कि तुम्हें इतनी व्यग्रता क्यों है? तब उसने बड़ा ही मधुर संकेत करते हुए कहा कि :—

सखि हमरे आरति अति ताते।
कबहुँक ए आवहिं एहि नाते॥

उसका अभिप्राय था कि अगर यह आएँगे तो केवल सीताजी के नाते से ही आएँगे, अन्य किसी नाते से यह नहीं आते हैं। यह स्त्रियाँ समझ गई कि राम से नाता जोड़ने का उपाय क्या है? वे यह जानती हैं कि राम और लक्ष्मण को जनकपुर में बार-बार बुलाने का उपाय एक मात्र श्री सीताजी ही हैं। क्योंकि भगवान राम हैं अखण्ड ज्ञान, तथा लक्ष्मणजी हैं मूर्तिमान वैराग्य। इसका अभिप्राय है कि यदि आप ज्ञान और वैराग्य को अपने अन्तःकरण में बुलाना चाहें तो केवल भक्ति देवी को बुला लीजिए। और जब भक्ति देवी आपके हृदय में आ जाएँगी, तब ज्ञान, वैराग्य तो स्वतः ही दौड़े चले आएँगे। परन्तु जहाँ पर भक्ति का सर्वथा अभाव है, वहाँ न तो ज्ञान आ सकता है और न ही वैराग्य। किन्तु जनकपुर की विशेषता यह है कि यहाँ पर ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति की त्रयी एक साथ विराजमान है। और जनकपुरवासी सीताजी के नाते से ही राम को अपना बनाकर धन्य हो जाते हैं, ईश्वर से नाता जोड़ने का बस यही उपाय है।

दूसरी ओर ग्रामवासिनी स्त्रियों ने भी ठीक वही उपाय किया, इनकी शैली भी वही है। जिस समय इन्होंने भी राम के सौन्दर्य को देखा, उस समय उनपर भी सम्मोहित करने वाला प्रभाव पड़ा। तब यह सारी स्त्रियाँ एकत्र होकर प्रभु का परिचय पाने की चेष्टा करती हैं। किन्तु अनोखापन यह है कि राम का परिचय प्राप्त करने के लिए वे राम से बात नहीं करतीं। यद्यपि नियम तो यही है कि आप जिसका परिचय पाना

चाहते हैं, उसीसे पूछ लीजिए कि आपका परिचय क्या है ? पर ग्रामवासिनी स्त्रियाँ परिचय तो पूछती हैं प्रभु का, लेकिन जाती हैं विदेहनन्दिनी के पास। वे श्री सीताजी के पास जाकर हाथ जोड़कर उनके समक्ष बैठ जाती हैं, उसके पश्चात उन्होंने बड़ा अनोखा कार्य किया। लोक-परम्परा यह है कि कोई भी स्त्री किसी अन्य स्त्री के सामने उसके पति की सुन्दरता का वर्णन नहीं करेगी। यह कभी नहीं कहेगी कि तुम्हारे पति की आँखें बड़ी अच्छी हैं, उनके कान बड़े अच्छे हैं, उनके अंग-प्रत्यंग बड़े ही आकर्षक हैं, और वे तो असाधारण सुन्दर हैं। लेकिन इन गाँवों की स्त्रियों ने कुछ इसी प्रकार का व्यवहार किया। वे श्री राम की सुन्दरता का वर्णन करना चाहती हैं, तथा वर्णन सुनाने के लिए उन्होंने श्रोता बनाया विदेहनन्दिनी को। जनकनन्दिनी को श्रोता बनाकर वे बड़े विस्तार से प्रभु की सुन्दरता का वर्णन करती हैं। किन्तु उनके वर्णन में भी प्रशनवाचक चिह्न विद्यमान है। और उनका प्रश्न भी बड़ा विनोद भरा तथा भाव रस से भीगा हुआ है। सीताजी उनसे कह सकती हैं कि इनके परिचय में तुम्हें ऐसा क्या अनोखापन लग रहा है ? जो मुझसे पूछने आई हो ? तो गाँव की स्त्रियों ने कहा कि इनको देखकर हम निर्णय नहीं कर पा रही हैं कि यह रागी हैं अथवा विरागी ? क्योंकि जब इनके सिर पर जटा दिखाई देती है तो लगता है यह मुनि हैं।

"सीस जटा" उर बाहु बिसाल—

लेकिन दूसरी ओर जब दृष्टि जाती है तो दिखाई देता है कि इनके नेत्रों में अनुराग की लाली है :—

सीस जटा उर बाहु बिसाल "बिलोचन लाल"

और तब हमारी समझ में नहीं आता है कि इनको रागी मानें अथवा विरागी ? किन्तु अगले वाक्य में तो उन्होंने श्रृङ्गार रस की पराकाष्ठा ही कर दी। श्री सीताजी से एक ग्रामवासिनी स्त्री ने पूछा कि इनके सिर पर जटा और नेत्रों में लाली ही नहीं अपितु "इनकी भौंहें तिरछी" भी हैं।

"सीस जटा उर बाहु बिसाल बिलोचन लाल" "तिरीछी सी भौंहें"

उस स्त्री ने कहा कि इनको मुनि मानने पर दूसरा विरोधाभास यह उत्पन्न होता है कि एक ओर तो इनके सीस पर जटाएँ हैं दूसरी ओर जब इनके हाथ और कन्धों पर दृष्टि जाती है तो वहाँ दिखाई देता है कि :—

"तून सरासन बान धरे"

इनके कन्धे और हाथों में धनुष-बाण है, तो फिर प्रश्न यह उठता है कि इनको अहिंसक मानें, अथवा प्रहार करने वाला कोई योद्धा मानें ? उस स्त्री ने कहा कि समझ में न आने वाले ऐसे जो श्री राम हैं, वे कर क्या रहे हैं ? तो उसने सीताजी से कह दिया कि :—

सादर बारहि बार सुभाय चितै तुम्ह त्यों···

यह बार-बार स्नेह भरी दृष्टि से आपकी ओर देख रहे हैं, इनकी दृष्टि बार-बार केवल आपकी ओर ही जाती है, आपको छोड़कर अन्यत्र कहीं इनकी दृष्टि जाती ही नहीं। तो सीताजी पूछ सकती हैं कि यदि यह मेरी ओर देख रहे हैं तो इसमें आप लोगों को कोई आपत्ति है, यह अगर मेरी ओर देख रहे हैं तो इसमें आपको क्या अटपटा लग रहा है ? तब उस स्त्री ने बड़ा मीठा प्रश्न किया, और उसका प्रश्न भी बड़ा सार्थक है। उसने कहा; देवि ! समस्या तो तब उत्पन्न होती है, जब कि :—

सादर बारहि बार सुभाय चितै तुम्ह त्यों "हमरो मन मोहैं ।।

जब यह प्रेम भरी दृष्टि से आपकी ओर देखते हैं तब हमारा मन चुरा लेते हैं। उसका तात्पर्य था कि अगर आप लोग आपस में वार्तालाप करते हैं तो हमारे समक्ष कोई समस्या नहीं है। पर इनके द्वारा आपकी ओर विलक्षण दृष्टि से देखने का परिणाम हमारे ऊपर होता है। इसका अभिप्राय है कि इनके अन्तःकरण में श्री राम की सुन्दरता के प्रति आकर्षण तो है पर वह आकर्षण वासनाजन्य नहीं है। क्योंकि जहाँ पर वासनामूलक आकर्षण होता है वहाँ यह वृत्ति अवश्य होती है कि प्रियतम की दृष्टि केवल मेरी ओर ही पड़े। लेकिन यहाँ पर ऐसा नहीं है। अपितु गाँव की स्त्रियाँ तो जिज्ञासा प्रगट करती हुई श्री सीताजी से कहती हैं कि :—

पूछति ग्रामबधू सिय सों "**यह साँवरो सो सखि रावरो को है**"।।
—२।२१ कवितावली।

आप कृपा करके यह बताइए कि "**साँवले वर्ण के राजकुमार आपके क्या हैं**" ?

इसका अभिप्राय है कि ग्रामवासिनी स्त्रियों के हृदय में ईश्वर के प्रति जो आकर्षण है, उसके द्वारा उन्होंने इस रहस्य को तो जान ही लिया, कि "**श्री राम समझ में न आने वाले हैं**"। इसीलिए जब यह प्रश्न किया गया कि ईश्वर का लक्षण क्या है? तब महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि **ईश्वर तो "अखिल विरुद्ध धर्माश्रय" है**। समस्त विरोधी धर्म उसमें एक साथ निवास करते हैं। यहाँ पर भगवान श्री राघवेन्द्र के इस वेष में भी राग, वैराग्य, अहिंसा, शान्त तथा शृङ्गार आदि परस्पर विरोधी धर्म एक साथ दिखाई पड़ रहे हैं। तब फिर प्रश्न यह उठता है कि यदि हम ईश्वर तत्त्व को जानना चाहें, उसे पाना चाहें, तो उसका उपाय क्या है? और भई गाँव की स्त्रियों ने तो इस कार्य के लिए माध्यम बनाया श्री सीताजी को। इसका अभिप्राय है कि अगर हमें ईश्वर को जानना है, उसका परिचय प्राप्त करना है, अथवा उससे नाता जोड़ना है, तो हमें भक्ति देवी का आश्रय लेना चाहिए, और उन्हीं भक्ति देवी का आश्रय इन स्त्रियों ने भी लिया।

गाँव की स्त्रियाँ कहती हैं कि जब यह आपकी ओर प्रेम से देखते हैं तब हमारा मन चुरा लेते हैं। यद्यपि देखा यह जाता है कि व्यक्ति को जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, उसी वस्तु को चुराता है। तो फिर प्रश्न यह है कि भगवान श्री राम दूसरे का मन क्यों चुरा लेते हैं। इसका तात्पर्य क्या है? रामचरितमानस में लिखा है कि प्रभु जब श्री किशोरीजी की ओर देखते हैं तब उनका मन श्री सीताजी चुरा लेती हैं। इसलिए एक भक्त ने भगवान से बहुत सुन्दर बात कही। उसने कहा कि महाराज! मैंने विचार किया कि आपको कौन सी वस्तु भेंट करूँ? मेरे अन्तःकरण में आया कि, आपको रत्न भेंट करूँ। किन्तु फिर ध्यान आया कि आप तो क्षीर सागर में निवास करते हैं जहाँ चारों ओर रत्न ही रत्न हैं, इसलिए रत्न भेंट करना ठीक नहीं। और जब सोचा कि धन भेंट करूँ, तो वह भी मुझे उचित नहीं लगा, क्योंकि आपकी पत्नी तो साक्षात् लक्ष्मी हैं। अतः प्रभु, मैं कुछ निर्णय नहीं कर पाया कि आपको क्या भेंट करूँ? पर अब मुझे पता चला है कि आपके पास भी एक वस्तु की कमी है, और मेरे पास वह वस्तु है, इसलिए वही वस्तु मैं आपको दे रहा हूँ। वह भक्त कहता है कि :—

रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा, किम् देयमस्ति भवता जगदीश्वराय।

लेकिन :—

सीता गृहीत मनसा मनसास्ति दैन्यम्, दत्तं मनो रघुपते कृपया गृहाण।।

प्रभु ! मैंने सुना है कि आपका मन सीताजी चुरा लेती हैं अत: आपके पास मन की कमी अवश्य ही होगी। इसलिए महाराज ! हमारा मन लेकर ही आप अपनी इस कमी को पूरा कर लीजिए। इस प्रकार आपकी भी समस्या का समाधान हो जाएगा और हमारे मन की सार्थकता भी हो जाएगी। रामचरितमानस में गोस्वामीजी यही बात कहते हैं—

करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरंद छबि, करइ मधुप इव पान।। १।२३१

और सुन्दरकाण्ड में भी भगवान राम जब हनुमानजी के द्वारा सीताजी के पास सन्देश भेजते हैं तब कहते हैं कि अपनी प्रीति और व्यथा किसी को सुनाना चाहिए, पर सुनाने का नियम यह है कि यदि कोई समझने वाला हो, तभी सुनाना चाहिए। पर क्या बताऊँ सीते ! हमारे-तुम्हारे प्रेम तत्त्व को जानने वाला केवल एक को छोड़कर संसार में और कोई है ही नहीं। प्रभु का शब्द है कि :—

कहेहू ते कछु दुख घटि होई।
काहि कहौं यह जान न कोई।।
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया "एकु मनु मोरा"।। ५।१४।६

प्रभु का अभिप्राय था कि हमारे तुम्हारे प्रेम तत्त्व को एक मात्र मेरा मन जानता है और कोई नहीं। श्री सीताजी प्रश्न कर सकती हैं कि जब आप यह स्वीकार करते हैं कि हमारे और आपके प्रेम तत्त्व को आपका मन जानता है तो फिर दूसरे को न सुना कर अपने मन को ही सुनाइए। परन्तु भगवान ने उत्तर देते हुए कहा कि सीता यह भी तो मेरे लिए सम्भव नहीं है। क्योंकि मेरा मन उस प्रेम तत्त्व को जानता तो है, और मैं अपने मन को सुनाना भी चाहता हूँ। लेकिन समस्या यह है कि उसे सुनाऊँ कैसे ? क्योंकि :—

मेरा वह मन मेरे पास है कहाँ ? वह तो सर्वदा तुम्हारे पास ही रहता है। गाँव की स्त्रियों का संकेत यह है कि ईश्वर का मन जब भक्ति की ओर चला जाता है तब ईश्वर हो जाता है बिना मन का। और तब उसे एक नए मन की आवश्यकता होती है। और फिर जिस भक्त का मन उसे प्रिय प्रतीत होता है, उसका मन लेकर ईश्वर भक्ति देवी को ही भेंट कर देता है। इसका तात्पर्य है कि वस्तुत: मन तो भक्ति देवी को ही अर्पित करने की वस्तु है। गाँव की स्त्रियाँ कहती हैं कि **"सादर बारहिं बार"**। इस बार-बार शब्द का तात्पर्य क्या है ? क्या इस पर कभी आपने विचार किया ? ग्रामवासिनी स्त्रियों का अभिप्राय है कि यह जितनी बार आपकी ओर देखते हैं, उतनी बार आप इनके मन को चुरा लेती हैं, तब इनको एक नए मन की आवश्यकता होती है, और तब यह पुन: हमारा मन छीन कर आपको दे देते हैं। उनका अभिप्राय है कि यह तो निश्चित हो ही गया कि यह आपके वशीभूत हैं। इतना तो हम भली भाँति समझ गयीं कि **"यह आपके हैं"**, पर कौन हैं, यह आप कृपा करके बता दीजिए ? तो प्रश्न यह उठता है कि क्या सचमुच गाँव की स्त्रियों को यह पता नहीं था कि इनका नाता क्या है ? इसका तात्पर्य यह है कि यदि यह दोनों केवल पति-पत्नी होते तो इन्हें पहचानना कठिन नहीं होता। और सीताजी तथा भगवान राम के विषय में तो यह समाचार बहुत पहले से फैल चुका था कि अयोध्या के राजकुमार अपनी पत्नी तथा छोटे भाई के साथ वन मार्ग में चल रहे हैं। इस प्रकार इन लोगों को सारा समाचार ज्ञात हो चुका था। पर गाँव की स्त्रियाँ चाहती क्या थीं ? गोस्वामीजी के शब्दों में, इस प्रश्न के पीछे उनकी बड़ी मधुर भावना विद्यमान थी। वे यह बताना चाहते हैं कि इन स्त्रियों ने भगवान राम का सीताजी के प्रति आकर्षण तो देख लिया, किन्तु श्री सीता का प्रभु के प्रति अनुराग वे नहीं देख पाईं, क्योंकि सीताजी संकोच के मारे अपनी दृष्टि को नीचे किए हुए बैठी हैं। वे नेत्र उठाकर प्रभु को देखने में लज्जा का अनुभव कर रही हैं। उसी समय गाँव की स्त्रियों के द्वारा श्री राम की सुन्दरता का वर्णन सुनाने के पीछे उनका बड़ा ही मधुर भाव छिपा हुआ है। वैसे यह बड़ी स्वाभाविक सी बात है कि जब हम किसी वस्तु का वर्णन करते हैं, तब हमारे मन में यह बात होती है कि सामने वाला व्यक्ति भी वर्णन की जाने वाली वस्तु की ओर देखे। तो ग्रामवासिनी स्त्रियों का अभिप्राय यह है कि श्री राम आपको कैसे देखते हैं, यह तो देखने को मिला, पर आप इनको कैसे देखती हैं, यह देखने को नहीं

मिला, किन्तु जब तक आपका देखना नहीं दिखाई देगा, तब तक तो दृश्य अधूरा है। इसलिए एक बार आप भी तो जरा इनकी ओर नेत्र उठाकर देखिए, तथा परिचय दे दीजिए कि यह कौन हैं ? और तब जनकनन्दिनी ने इन स्त्रियों को प्रभु का जो परिचय दिया वह वाणी से नहीं दिया। अपितु किया क्या ?

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढांकी।
पिय तन चितइ भौंह करि बांकी।। २।११६।६

विदेहनन्दिनी ने पहले तो अपने मुख पर आँचल डाल लिया, और फिर अपने प्रियतम को टेढ़ी भौंह करके देखा। तब श्री सीताजी की भौंहों का टेढ़ापन इन ग्रामीण स्त्रियों ने भी देखा। जिस समय श्री किशोरीजी ने प्रेम भरी दृष्टि से प्रभु की ओर देखा, उस समय इन स्त्रियों को ऐसा लगा, जैसे किसी धनिक ने अपने खजाने का दरवाजा खोल दिया हो और दरिद्र लोग उस धन को लूट-लूट कर प्रसन्न हो रहे हों। इसका तात्पर्य है कि ईश्वर अगर धन है, तो उस धन की स्वामिनी हैं भक्ति देवी। तथा सीताजी से पूछने का अभिप्राय है कि यदि हम भगवान को देखना चाहते हैं तो उसे भक्ति की दृष्टि से ही देखने की चेष्टा करें। गोस्वामीजी ने तो कवितावली में इन ग्रामवासिनी स्त्रियों का बड़ा मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जब यह तीनों पथिक वहाँ से चले गए तब इन स्त्रियों के मन में असन्तोष हुआ। उनको लगा कि अरे ! यह तो बड़े कम समय तक इनका दर्शन हुआ। यदि कुछ देर और दर्शन होता तो कितना अच्छा रहता। और इसके लिए तब इन्होंने एक योजना बनाई। इन स्त्रियों ने विचार किया कि जहाँ पर यह तीनों पथिक रात्रि में निवास करें, वहीं चल कर इनके दर्शन किए जाएं। गोस्वामीजी उस अवसर का बड़ा ही मधुर चित्र खींचते हुए कहते हैं कि एक स्त्री ने दूसरे से कहा कि :—

धरि धीर कहैं चलु देखिअ जाइ "जहाँ सजनी रजनी रहिहैं"।

तब दूसरी स्त्री ने कहा कि इस प्रकार के कार्य से तो समाज रुष्ट हो सकता है, तो उसने कहा कि :—

"कहिहैं जग पोच न सोच कछू"

संसार वाले आलोचना करें तो भी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि :—

"फल लोचन आपन तौ लहिहैं"

उसने कहा कि नेत्रों की चरम सार्थकता जिनका साक्षात्कार करने में है, जिनको प्राप्त करने में है, उनका दर्शन यदि हमें प्राप्त होता है, तो लोगों की आलोचना की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। लेकिन एक स्त्री ने बड़ा अनोखा प्रश्न कर दिया। उसने कहा कि यह तो किसी वृक्ष के नीचे विश्राम करेंगे, तथा वहाँ पर दिया जलाकर तो यह रुकेंगे नहीं, रात्रि में तो वृक्ष के नीचे बड़ा अन्धेरा होगा, तब जाने के बाद भी, उनका दर्शन तो होगा नहीं, फिर जाने से लाभ क्या? तब तीसरी सखी ने कहा कि दर्शन भले ही न हो किन्तु एक लाभ तो होगा। क्या? कि :—

"सुख पाहिहैं कान सुनै बतियाँ"

उसका अभिप्राय था कि कान को शब्द तो सुनाई देगा, दृष्टि के लिए भले ही प्रकाश की आवश्यकता है, पर शब्दों के लिए तो किसी दिये की आवश्यकता नहीं होती। तब चौथी स्त्री ने प्रश्न किया कि जो श्री राम इतने संकोची हैं कि श्री सीताजी को छोड़कर अन्य किसी की ओर तो देखते ही नहीं। किन्तु क्या तुम आशा करती हो कि वे हमलोगों से बातचीत करेंगे। जो देखते भी नहीं, वह बात कैसे करेंगे? तब उस सखी ने बड़ा ही सार्थक उत्तर दिया। उसने कहा कि यह कौन कहता है कि यह हमसे बात करेंगे? पहली सखी का प्रश्न था कि जब बात नहीं करेंगे तो शब्द कैसे सुनाई पड़ेगा? तब उसने कहा कि :—

सुख पाहिहैं कान सुनै बतियाँ "कलु आपुस में कछु तौ कहिहैं"

यह श्री लक्ष्मणजी से तो बोलेंगे न, सीताजी से तो बोलेंगे न? गाँव की स्त्रियाँ कहती हैं कि सीताजी राम से बोलें तथा राम श्री सीताजी से बोलें, श्री सीताजी भगवान राम की ओर देखें, तथा प्रभु श्री किशोरीजी की ओर देखें, और उस दृश्य का साक्षात्कार करने का अवसर हमें प्राप्त हो इससे बढ़कर इस जीवन की कोई सार्थकता नहीं हो सकती। गोस्वामीजी से किसी ने पूछा कि इन स्त्रियों को श्री राम मिले कि नहीं? श्री राम ने

उनकी ओर देखा कि नहीं ? तो तुलसीदासजी ने कहा कि भाई ! जिसने भक्ति के प्रति इतना अद्‌भुत नाता जोड़ लिया, जिनका श्री राम और सीता से इतना प्रेम है, क्या उसको प्रभु की प्राप्ति के लिए इतनी दूर चलकर जाने की आवश्यकता है ? और यदि वे चलकर जातीं भी, तो उन्हें कुछ क्षणों के लिए ही प्रभु का वार्तालाप सुनाई देता, किन्तु यहाँ तो एक नया दृश्य उपस्थित हो गया। ज्योंही उस स्त्री ने कहा कि :—

"सुख पाहिहैं कान सुनै बतियाँ कलु आपुस में कछु तौ कहिहैं"।

गोस्वामीजी कहते हैं कि उसी समय अत्यन्त प्रेम के कारण इन स्त्रियों के नेत्र बन्द हो गए, और तब दृश्य क्या दिखाई पड़ा :—

तुलसी अति प्रेम लगी पलकें "पुलकीं लखि राम हिए महिंहैं" ॥

ज्योंही इनकी आँखें मुँदीं, तुरन्त ही प्रभु श्री राम उनके हृदय में प्रगट हो गए, तथा प्रभु ने उनसे कहा कि—जिनका हृदय भक्ति रस से परिपूर्ण है, मुझे पाने के लिए उन्हें यात्रा करने की आवश्यकता नहीं है। आप लोगों को दर्शन देने के लिए लो मैं ही यहाँ आ गया। इस प्रकार गँवारी कहलाने वाली नारियाँ भी ईश्वर को प्राप्त करके धन्य हो जाती हैं। इसका सीधा सा तात्पर्य यह है कि ईश्वर न तो गँवारपने से रुष्ट होता है, और न ही चतुराई से मिल जाता है। गोस्वामीजी ने कहा कि भाई ! व्यक्ति गँवार हो अथवा चतुर, किन्तु जिसके अन्तःकरण में श्री राम के प्रति प्रेम है वह भक्ति के नाते से भगवान को पा लेता है। लेकिन शूर्पणखा का दुर्भाग्य यह है कि वह देह-नगर लंका की रहने वाली है ; तथा देह-नगर में जन्म लेकर वासना को उसने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है। वह श्री राम को पाना तो चाहती है, पर उसका दुर्भाग्य यह है कि भगवान श्री राघवेन्द्र को पाने के लिए उसके मन में ठीक उल्टी भावना है। श्री राम के पास जाकर वह उनसे सीधे ही प्रस्ताव करती है। गोस्वामीजी ने कहा कि :—

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई।
बोली बचन बहुत मुसुकाई ॥ ३।१६।७

शूर्पणखा हँसकर प्रभु से वार्तालाप करने लगी। कबीर से किसी ने कहा कि ईश्वर की प्राप्ति कैसे होगी ? तो कबीरदासजी ने कहा कि :—

कबिरा हँसना दूर कर रोने से कर प्रीत।
बिनु रोए कत पाइयाँ प्रेम पिआरा मीत॥

ईश्वर यदि मिलेगा तो व्याकुलता से मिलेगा, प्रेम से मिलेगा। और शूर्पणखा कैसे पाना चाहती है?

बोली बचन बहुत मुसुकाई। ३।१६।७

यह तो प्रभु के पास जाकर मुस्कुराती हुई खड़ी हो गई, और भगवान राम से वार्तालाप भी इसने बड़े विचित्र ढंग से प्रारम्भ किया। यद्यपि क्रम तो यह है कि जीव यदि ईश्वर को पाना चाहता है, तो वह अपनी दीनता, अपने अवगुण उसके समक्ष रख देता है। गोस्वामीजी भी विनय पत्रिका में श्री राम से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि :—

तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।

प्रभु आप पतितपावन हैं, मैं पतित हूँ, आप दयालु हैं, मैं दीन हूँ, आप महान हैं और मैं निम्न हूँ। पर शूर्पणखा ने भगवान से बड़े विचित्र ढंग से निवेदन किया। वह बोली कि मैं और तुम तो बिल्कुल बराबरी के हैं :—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी।
यह सँजोग बिधि रचा बिचारी॥ ३।१६।८

किन्तु इतना कहने के बाद उसके मन में चिन्ता हो गई, कि मैंने इस राजकुमार को बराबर का दर्जा तो दे दिया, लेकिन विवाह करने के पश्चात् कहीं यह व्यंग्य न करे कि तू ही तो मेरे पास विवाह का प्रस्ताव लेकर गई थी, मैं तो तेरे पास आया नहीं था। तो शूर्पणखा ने निर्णय कर लिया कि उसका मार्ग अभी से बन्द कर देना चाहिए, और तब वह कहती है कि :—

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं।
देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥ ३।१६।९

उसने कहा कि मेरे समान संसार में सुन्दर तो कोई व्यक्ति नहीं है, इसलिए मैं अब तक क्वाँरी हूँ।

तातें अब लगि रहिउँ कुआँरी । ३।१६।१०

शूर्पणखा से पूछा जा सकता है कि अब तुम्हारे मन में पूर्ण सन्तोष हो गया क्या ? तो वह कहती है कि नहीं पूर्ण सन्तोष तो मुझे नहीं है, लेकिन :—

मनु माना कछु तुम्हहिं निहारी । ३।१६।१०

तुमको देखकर मेरा मन कुछ-कुछ मानँ गया है । और भई ! ईश्वर को देखकर जिसका कुछ मन माने, उसमें भक्ति कहाँ है ? भक्ति का तो अर्थ ही है कि जहाँ भगवान को पूरा मन दे दिया गया हो, जिसके मन का बँटवारा हो गया वह भक्त नहीं । और फिर शूर्पणखा के विवाह के प्रस्ताव को सुन करके भगवान राम ने श्री सीताजी की ओर देखा :—

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता । ३।१६।११

इस वाक्य में गोस्वामीजी ने भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का संकेत कर दिया । श्री सीताजी की ओर देखने का भौतिक तात्पर्य यह है कि प्रभु ने मानो शूर्पणखा से प्रश्न किया कि तुमने अभी जो शब्द कहा कि "मेरे समान कोई सुन्दरी है ही नहीं" यह दावा तुमने श्री सीताजी को देखने के बाद किया अथवा बिना देखे ही कर दिया । और यदि न देखा हो तो अभी भी देख लो । तथा आध्यात्मिक दृष्टि से इसका अभिप्राय है कि मैं तो यह घोषणा कर चुका हूँ :—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता ।
मानउँ एक भगति कर नाता ।। ३।३४।४

नाता तो मैं भक्ति का ही मानता हूँ, और भक्तिरूपा यह सीता हैं । प्रभु का अभिप्राय था कि आज तक जिसने मुझे पाने की चेष्टा की, उसने मुझे श्री सीताजी के माध्यम से ही प्राप्त किया । किन्तु तुम पहली ऐसी पात्र हो कि मुझे पाना तो चाहती हो, पर इनकी ओर तुम्हारी दृष्टि ही नहीं । और आगे चल कर प्रसङ्ग आया कि जब शूर्पणखा के मन में यह विश्वास हो गया कि जब तक सीताजी रहेंगी, तब तक राम मुझे नहीं मिलेंगे, अगर मैं सीता को मिटा दूँ, तो राम को पाने में समर्थ हो सकूँगी ।

उसने यह मान लिया कि राम की प्राप्ति में जो बाधा है, वह एक मात्र सीताजी ही हैं, और तब वह सीताजी को खाने के लिए चलती है। इसका अभिप्राय है कि शूर्पणखा है वासना और श्री सीताजी हैं साक्षात् भक्ति। गोस्वामीजी कहते हैं कि वासना अपने सूक्ष्म मन के द्वारा भगवान को चाहती है, तथा अपने मन के अल्प भाव ईश्वर को समर्पित करने की चेष्टा करती है। वह चाहती है कि श्री राम मेरे सौन्दर्य की सराहना करें, पर भगवान राम ने उसकी ओर एक बार भी दृष्टि उठाकर नहीं देखा। हाँ यह अवश्य कह दिया कि "**अहइ कुमार मोर लघु भ्राता**"। मेरा छोटा भाई कुँआरा है। और शूर्पणखा तत्काल लक्ष्मणजी के पास चली गई। किन्तु लक्ष्मणजी ने उसके सौन्दर्य की अवश्य प्रशंसा की। ज्यों ही शूर्पणखा ने जाकर उनके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा तो लक्ष्मणजी के मुख से यह वाक्य निकला कि "**सुन्दरि सुनु**" (सुन्दरी सुनो) और ज्यों ही उसने यह वाक्य सुना तो उसे लगा कि बड़ा राजकुमार तो बहुत नीरस था। क्योंकि मैं इतनी सुन्दर हूँ किन्तु एक बार भी उसने मेरी सुन्दरता की प्रशंसा नहीं की, लेकिन छोटा भाई कुछ रसिक अवश्य जान पड़ता है, इसलिए मुझे सुन्दरी कह कर पुकार रहा है। किन्तु शूर्पणखा की यह प्रसन्नता स्थायी न रह सकी और उसने विचार किया कि मुझे सुन्दरी तो कह रहा है पर मेरी ओर देख नहीं रहा है। और लक्ष्मणजी देख किधर रहे हैं? इसका संकेत करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि :—

गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी।
प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी॥ ३।१६।१२

श्री लक्ष्मणजी देख तो रहे हैं, श्री राम की ओर, और सुन्दरी कह रहे हैं शूर्पणखा को। वह पूछ सकती है कि अगर तुम मुझे सुन्दरी मानते हो तो मेरी ओर देखते क्यों नहीं? और लक्ष्मणजी का व्यंग्य यह था कि शूर्पणखा! जब तक मैं तुम्हें नहीं देख रहा हूँ तभी तक तुम सुन्दरी दिखाई दे रही हो, जब मेरी दृष्टि पड़ जाएगी, तब तो तुम्हारी कुरूपता प्रगट हो जाएगी। इसका आध्यात्मिक अभिप्राय यह है कि जब तक व्यक्ति भोगवाद की दृष्टि से अन्धा होकर वासना को देखता है तभी तक उसको वासना में सौन्दर्य दिखाई देता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति वैराग्य की दृष्टि से वासना को देखता है तो उसकी कुरूपता बाहर आए बिना नहीं रहती है। और लक्ष्मणजी महाराज को रामचरितमानस में मूर्तिमान वैराग्य ही बताया गया है।

सानुज सीय समेत प्रभु, राजत परन कुटीर ।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु, सोहत धरे सरीर ।। २।३२१

इस प्रकार एक पक्ष यह है कि जब कोई शूर्पणखा के समाम वासनायुक्त अन्तःकरण से भक्ति शून्य होकर ईश्वर को पाने की चेष्टा करता है तो अन्ततोगत्वा वह व्यक्ति ईश्वर को पाने में समर्थ नहीं होता। किन्तु जीवन का दूसरा पक्ष यह है कि शूर्पणखा इतने से ही निराश नहीं हुई, अपितु वह अपने भाई को प्रेरित करती है कि तुम सीताजी को पाने की चेष्टा करो। यहाँ पर मैं आधार के रूप में आपको यह सूत्र दे दूँ कि संसार में दो बहुत बड़े आकर्षण हैं। एक तो सौन्दर्य का और दूसरा स्वर्ण का। तथा लंका में यह दोनों आकर्षण विद्यमान हैं। इनमें से सौन्दर्य का आकर्षण लेकर शूर्पणखा की प्रेरणा से विदेहनन्दिनी को चुराने का उद्देश्य लेकर रावण आता है। इसका अर्थ है कि रावण शान्तिरूपा श्री सीताजी को पाना चाहता है, किन्तु वे मिलेंगी कैसे ? इसका उत्तर यह है कि अगर कोई शान्ति को ईश्वर से अलग करके पाना चाहे तो वह रावण के ही समान है। वह जनकनन्दिनी को प्राप्त करने की चेष्टा तो करता है, किन्तु उसमें कई कुत्सित मनोवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। यद्यपि रावण और शूर्पणखा दोनों ही दुष्ट हैं, किन्तु उनमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि शूर्पणखा तो श्री राम और सीताजी के बीच दूरी उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हुई, पर रावण इस कार्य में सफल हो गया। यद्यपि वह विदेहनन्दिनी को प्राप्त नहीं कर सका, लेकिन उस समय तो ऐसा लगा कि उसने श्री सीताजी को भगवान राम से अलग कर दिया, और वह दूरी कब उत्पन्न होती है, जीवन से शान्ति दूर कब चली जाती है, भक्ति और भगवान में दूरी कब आती है, तथा शक्ति और ईश्वर एक दूसरे से कब अलग हो जाते हैं ? आइए जरा इस प्रश्न पर भी विचार करें।

गोस्वामीजी कहते हैं कि, प्रलोभन, संशय तथा भ्रम यह तीनों वृत्तियाँ जब उत्पन्न हो गईं तब भक्ति और भगवान में दूरी पैदा हो गई। इसका अभिप्राय है कि जब अन्तःकरण में संशय, भ्रम तथा प्रलोभन प्रविष्ट हो जाते हैं तब हमारे जीवन से शान्ति दूर चली जाती है। रावण श्री सीताजी का अपहरण करने के लिए स्वर्ण मृग का आश्रय लेता है, और यह स्वर्ण-मृग वस्तुतः प्रलोभन का प्रतीक है। शूर्पणखा और रावण के दण्डकारण्य में आने पर एक अन्तर यह भी दिखाई दिया, कि शूर्पणखा के आने पर न तो भगवान राम ने उसकी ओर देखा और न ही लक्ष्मणजी ने। लेकिन जब स्वर्णमृग लेकर रावण आया तो क्रम उलट गया, अब क्या हुआ ? तो गोस्वामीजी ने कहा कि अब तो :—

सीता परम रुचिर मृग देखा। ३।२६।३

सीताजी ने मृग की ओर देख लिया, उनकी दृष्टि प्रलोभन की ओर चली गई। और प्रलोभन के पश्चात भ्रम पैदा हो गया। क्योंकि माया-मृग की असलियत को पहचाना नहीं। और जब भ्रम उत्पन्न हो गया तब उन्होंने भगवान राम से कह दिया कि :—

सुनहु देव रघुबीर कृपाला।
एहि मृग कर अति सुन्दर छाला॥
सत्यसंघ प्रभु बध करि एही।
आनहु चर्म कहति बैदेही॥ ३।२६।४

प्रभु यह मृग तो बहुत सुन्दर है, आप इसका चमड़ा मेरे लिए ला दीजिए। इस प्रकार भ्रम भी उत्पन्न हो गया। और जब भगवान राम स्वर्ण-मृग का पीछा करते-करते बहुत दूर चले गए तब प्रभु ने एक बाण से मारीच का वध कर दिया। किन्तु मरते समय मारीच ने लक्ष्मण का नाम लेकर पुकारा। और जब सीताजी ने वह स्वर सुना तो उन्हें ऐसा लगा कि श्री राम संकट में पड़ कर लक्ष्मण को पुकार रहे हैं। तब उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा कि :—

जाहु बेगि संकट अति भ्राता। ३।१६।३

लक्ष्मण ! क्या तुमने सुना नहीं ? तुम्हारे भाई संकट में पड़े हुए हैं और वे सहायता के लिए तुम्हें पुकार रहे हैं। किन्तु जब लक्ष्मणजी ने यह वाक्य सुना, तो गोस्वामीजी ने कहा कि—'**लछिमन बिहँसि**" वे बहुत जोर से हँसे। और उनकी हँसी के पीछे भी बड़ा गम्भीर संकेत छिपा हुआ है। लक्ष्मणजी सोचते हैं कि अभी तक तो मैंने यही सुना था कि जीव जब संकट में पड़ता है तो वह सहायता के लिए ईश्वर को पुकारता है, पर आज पहली बार यह शब्द सुन रहा हूँ कि ईश्वर संकट में पड़कर जीव को रक्षा के लिए, पुकार रहा है। और यह वाक्य भी साक्षात् भक्ति देवी के मुख से निकल रहा है। इस प्रकार संशय भी भक्ति देवी में दिखाई दे रहा है। इसका अभिप्राय है कि जब यह तीनों वृत्तियाँ व्यक्ति के अन्तःकरण में आ जाती है तब उसके जीवन से शान्ति दूर चली जाती है। लेकिन भक्ति और भगवान के बीच की यह दूरी समाप्त कैसे होगी, उसका उपाय क्या है ? इस प्रकार भी आप जरा विचार कीजिए।

आगे चलकर वर्णन आता है कि जब भगवान राम विदेहनन्दिनी को खोजने चले तो सबसे पहले वे उन्हीं शबरीजी के पास गए जिनकी प्रशंसा करते हुए प्रभु ने कहा कि शबरी ! वस्तुत: तुम में तो मेरी सभी नौ भक्ति एक साथ निवास करती हैं। प्रभु का वाक्य यही है कि :—

नव महुँ एकउ जिन्ह के होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई ।।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ।। ३।३५।७

प्रभु का तात्पर्य था कि शबरी ! शूर्पणखा आई थी अपने सौन्दर्य की प्रशंसा सुनने, किन्तु मुझे तो उसमें सौन्दर्य दिखाई नहीं दिया, परन्तु आपके वृद्ध शरीर में भक्ति का जो दिव्य आकर्षण है, उसको मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। और यह जानता हूँ कि सीताजी जो मुझसे दूर हो गई हैं, उनकी प्राप्ति का उपाय तो केवल आप ही बता सकती हैं। और सचमुच शबरीजी के द्वारा बताए गए सूत्र के आधार पर ही, आगे बढ़कर भगवान राम श्री सीताजी को पुनः प्राप्त करते हैं। और शबरीजी के द्वारा बताए गए वे सूत्र कौन से हैं, इसकी चर्चा हम कल करेंगे, आज इतना ही।

बोलिए सियाबर रामचन्द्र की जय।

श्री रामः शरणं मम

तृतीय प्रवचन

जनकसुता कइ सुधि भामिनी ।
जानहि कहु करिवर गामिनी ।।
पंपा सरहि जाहु रघुराई ।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ।।
सो सब कहिहि देव रघुबीरा ।
जानतहूँ पूछहु मतिधीरा ।।
बार-बार प्रभु पद सिरु नाई ।
प्रेम सहित सब कथा सुनाई ।।

कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदय पद पंकज धरे ।
तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ।।
नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू ।
बिश्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू ।।

जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्ह असि नारि ।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहिं बिसारि ।। ३।३६

आइए, अब कुछ समय के लिए एकाग्र और शान्त चित्त से भगवती सीता के अन्वेषण का जो मार्ग रामचरितमानस में प्रस्तुत किया गया है, उसको हृदयङ्गम करने की चेष्टा करें। दण्डकारण्य में लंकाधिपति रावण के द्वारा विदेहनन्दिनी अपहृत कर ली जाती हैं। और भगवान श्री राघवेन्द्र

उन्हें खोजते हुए भक्तिमयी शबरी के आश्रम में जाकर उनके समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं, कि आपको यदि जनकनन्दिनी की सुधि ज्ञात हो तो बताइए। तथा यह भी बताएँ कि उनको प्राप्त करने का उपाय क्या है ? यह वाक्य सुनकर शबरीजी प्रभु के चरणों में विनम्रतापूर्वक नत हो जाती हैं। प्रारम्भ में तो उनको बड़ा संकोच सा लगता है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर एक जिज्ञासु के रूप में उनसे सीताजी को पाने का उपाय पूछ रहा है। लेकिन जब उनकी दृष्टि इस बात की ओर जाती है कि भले ही श्री राम ईश्वर हैं, किन्तु इस समय तो वे अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन न करके केवल मानवीय लीला कर रहे हैं, तब उनका संकोच दूर हो जाता है। वे सोचती हैं कि मनुष्य के जीवन में जिस प्रकार की समस्याएँ आती हैं, उन्हीं समस्याओं को नरनाट्य में श्री राम भी स्वीकार करते हुए दिखाई देते हैं। और इन समस्याओं का समाधान पाने के लिए व्यक्ति को जिस पद्धति का आश्रय लेना चाहिए। उसी पद्धति को भगवान श्री राम ने अपने चरित्र के माध्यम से प्रगट किया है। और तब शबरीजी प्रभु को श्री सीताजी की खोज का मार्ग बताती हैं। किन्तु उपाय बताते समय भी वे भली प्रकार से यह जानती हैं कि वस्तुतः यह तो प्रभु का नरनाट्य है।

उपरोक्त प्रसंग पर यदि श्री राम के ईश्वरत्त्व को दृष्टिगत रखकर विचार करें तो श्री राम हैं साक्षात् ईश्वर, और श्री सीता उनकी अभिन्न शक्ति हैं। ईश्वर और शक्ति कभी एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते, उनमें दूरी उत्पन्न नहीं हो सकती। यह एक दार्शनिक तत्त्व है। वस्तुतः श्री सीताजी और भगवान राम में वियोग हो ही कैसे सकता है ? इसीलिए इस प्रसङ्ग का प्रारम्भ करते समय भगवान शंकर ने पार्वतीजी को सावधान कर दिया। वर्णन आता है कि कन्द. मूल, फल लाने के लिए एक दिन जब लक्ष्मणजी वन को गए तब एकान्त में भगवान श्री राम ने श्री सीताजी से मिलकर एक योजना बनाई। और उस योजना के प्रारम्भ में ही प्रभु ने श्री किशोरीजी से यह स्पष्ट कर दिया कि इस लीला में आपको कौन सा पाठ करना है। क्योंकि रङ्गमञ्च पर प्रत्येक अभिनेता को अलग-अलग भूमिका सौंपी जाती है, तथा प्रत्येक अभिनेता को उसके लिए प्रस्तुत रहना पड़ता है। और तब प्रभु ने श्री सीताजी को यह बताया कि उन्हें क्या करना है ? क्योंकि यह तो कभी सम्भव ही नहीं था कि विदेहनन्दिनी के जीवन में स्वर्णमृग को देखकर मोह उत्पन्न हो, तथा एक नकली वस्तु को वे वास्तविक मान लें। और यह भी कभी सम्भव नहीं था कि एक मायिक वस्तु (बनावटी स्वर्णमृग) को देखकर भगवान राम से यह अनुरोध करें कि यह स्वर्णमृग मेरे लिए ला दीजिए। क्योंकि जो अनन्त शक्ति की जननी हैं,

जो साक्षात् महालक्ष्मी हैं, उनके अन्तःकरण में भला स्वर्णमृग का प्रलोभन कैसा ? जो अयोध्या तथा जनकपुर के वैभव का स्वेच्छा से परित्याग करके भगवान श्री राघवेन्द्र के साथ आयीं है, क्या उनके जीवन में सचमुच यह सम्भव था कि वे सोने का मृग देखकर इतनी आकृष्ट हो जातीं कि श्री राम को उस मृग के पीछे लगा देतीं ? इसलिए भगवान श्री राम जब एकान्त में श्री सीताजी के समक्ष प्रस्ताव करते हैं, तो मानो वे सीताजी से यह कहना चाहते हैं कि नाटक में आपको जो कार्य दिया जा रहा है वह आपके स्वभाव के प्रतिकूल है। यद्यपि मैं जानता हूँ कि आपके लिए यह कार्य करना सम्भव नहीं है, फिर भी लोक-कल्याण के लिए आपको इस प्रकार का अभिनय स्वीकार करना चाहिए। प्रभु यह जानते हैं कि मैं एक ऐसा अटपटा अभिनय श्री सीताजी को सौंपना चाहता हूँ, जो उनके चरित्र से बिल्कुल मेल नहीं खाता। इसलिए भगवान श्री राघवेन्द्र जनकनन्दिनी के समक्ष अपना प्रस्ताव रखते हुए उनके प्रति अनेक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। प्रभु श्री सीताजी के लिए एक विशेष शब्द कहते हैं कि **"सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला"** तुम तो मेरे प्रति अत्यन्त व्रतनिष्ठ हो। मेरी प्रसन्नता ही तुम्हारी प्रसन्नता है। और यदि मेरी प्रसन्नता में ऐसा कोई कार्य करना पड़े जो आपको प्रिय न हो तो भी मुझे विश्वास है कि आप अपने व्रत की निष्ठा के कारण उस कार्य को अवश्य ही स्वीकार करेंगी। प्रभु का तात्पर्य था कि व्रत में जैसे व्यक्ति को कष्ट भी होता है, किन्तु फिर भी व्यक्ति उस कष्ट को यह समझकर प्रसन्नता से स्वीकार कर लेता है कि जब मैंने व्रत स्वीकार किया है तो व्रत की पूर्ति के लिए यदि कोई कष्ट भी उठाना पड़े, तो उसमें संकोच नहीं करना चाहिए। और भगवान श्री राम ने भी श्री सीताजी से यही कहा कि आप तो एक व्रत ग्रहण कर चुकी हैं, और उस व्रत की पूर्ति के लिए यदि कोई कष्ट भी उठाना पड़े तो आप उस कष्ट को स्वीकार करें। तब आप देखेंगे कि स्वयं विदेहनन्दिनी प्रभु से स्वर्णमृग की याचना करती हैं। केवल इतना ही नहीं, उससे भी निष्ठुर कार्य तो श्री सीताजी का है, लक्ष्मण के चरित्र पर सन्देह प्रगट करना। जो वाक्य उन्होंने लक्ष्मणजी के प्रति कहे, क्या वे वाक्य विदेहनन्दिनी के मुख से शोभा देते हैं ? इन्हीं वाक्यों के परिणामस्वरूप उनको भगवान श्रीराम से दूर जाकर लंका में राक्षसों के बीच निवास करना पड़ता है। किन्तु प्रभु अपने समस्त व्रत की स्मृति दिलाते हुए, उनसे कहते हैं कि :—

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। ३।२३।१

प्रभु ने कहा आप मेरे अनुरोध को न टालिएगा, क्योंकि आप तो अत्यन्त शीलमयी हैं, आप तो अपने व्रत में निरन्तर संलग्न हैं। और आप यह मत समझिएगा कि केवल आपका ही कार्य कठिन है, अपितु मेरा पाठ भी कम कठिन नहीं है। क्योंकि मैं तो एक साधारण मनुष्य के समान लीला करूँगा। भगवान श्रीराम का वाक्य यही है कि :—

मैं कछु करबि ललित नरलीला ।।३।२३।१

यहाँ पर मैं यह बताना चाहूँगा कि श्री सीताजी ने जिस प्रकार स्वर्ण-मृग को सत्य मानकर उसके पीछे ईश्वर को दौड़ा दिया। इसी प्रकार से जब मनुष्य का मन किसी प्रलोभन की ओर आकृष्ट होता है, तब या तो वह स्वयं उसकी ओर भागने लगता है या भगवान को ही उस प्रलोभन के पीछे लगा देता है। इसका तात्पर्य है कि यदि हमारे जीवन में कोई लोभ आता है तो उस लोभ की पूर्ति के लिए या तो हम स्वयं लोभ के पीछे-पीछे भागने का प्रयत्न करते हैं, जिसका प्रतीकात्मक संकेत बालकाण्ड में प्रतापभानु के माध्यम से किया गया है।

वर्णन आता है कि प्रतापभानु ने जब एक शूकर को देखा, तो वह उसके प्रति इतना आकृष्ट हुआ कि घोड़े पर बैठकर उस शूकर के पीछे भागने लगा। इसका अभिप्राय है कि घोड़ा तो पुरुषार्थ का प्रतीक है, तथा शूकर लोभ का। गोस्वामीजी मानो यह बताना चाहते हैं कि कुछ लोग तो प्रतापभानु की भाँति ही लोभ की पूर्ति अपने पुरुषार्थ के द्वारा करना चाहते हैं। रामचरितमानस में यह बताया गया है कि प्रतापभानु, मनुष्य से राक्षस किस प्रकार बन जाता है? इसका अभिप्राय है कि मनुष्य के जीवन में जब तक केवल लोभ की आकांक्षा है, तब तक तो मनुष्य धार्मिक दृष्टि से संतुलित रह कर अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। पर जब मनुष्य के अन्तःकरण में लोभ की पराकाष्ठा आ जाती है तब उसमें राक्षसी वृत्ति का उदय होता है। और राक्षसी वृत्ति उदय होने के पश्चात, प्रलोभन के पीछे भागता हुआ व्यक्ति, राक्षस के रूप में परिणत हो जाता है, वह मानव जीवन का एक चित्र है। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो लोभ के पीछे स्वयं भगवान को ही लगा देते हैं। भगवान को लगा देने का अभिप्राय है कि वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि महाराज कृपा करके आप मेरी आकांक्षा को पूर्ण कर दीजिए। इस प्रकार यदि हम ईश्वर से प्रार्थना करें कि वही हमारे लोभ की पूर्ति करे तो प्रतापभानु के समान पतन की तो कोई सम्भावना नहीं रहती, किन्तु सीताजी को राक्षसियों के बीच दस महीने तक

घोर कष्ट तो उठाना ही पड़ा, तथा उनके हृदय को पीड़ा तो पहुँची ही। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब हम ईश्वर को प्रलोभन के पीछे लगा देते हैं तब उसका परिणाम होता है कि ईश्वर हमसे दूर चला जाता है। जब तक विदेहनन्दिनी ने भगवान श्री राघवेन्द्र से स्वर्ण मृग की माँग नहीं की, तब तक प्रभु पास बैठे हुए थे, लेकिन ज्योंही सीताजी ने कहा कि "**प्रभु ! यह स्वर्णमृग मुझे ला दीजिए**" त्योंही श्रीराम उनसे दूर चले गए। गोस्वामीजी से पूछा गया कि भगवान राम यदि इस मृग को मारना ही चाहते थे तो क्या एक ही स्थान पर बैठे-बैठे नहीं मार सकते थे ? वे यदि चाहते तो सीताजी के पास बैठे रहते तथा वहीं से धनुष पर बाण चढ़ा कर मारीच को मार देते। यद्यपि अरण्यकाण्ड के ही एक अन्य प्रसंग में प्रभु ने बाण का कुछ इसी प्रकार से प्रयोग भी किया है। वहाँ पर भी केन्द्र में श्री सीताजी ही हैं, लेकिन एक अन्तर हमें अवश्य दिखाई देता है। जयन्त के द्वारा चरणों में प्रहार होने के पश्चात् जब श्री सीताजी के चरणों से रक्त निकलने लगा, तब श्री किशोरीजी ने भगवान राम से स्वयं कुछ नहीं कहा। इसका अभिप्राय है कि भक्ति की एक स्थिति तब है जब बड़ा से बड़ा कष्ट आने पर भी भक्ति स्वयं भगवान को अपना कष्ट नहीं बताना चाहती। हमारे वृन्दावन के एक बड़े प्रसिद्ध सन्त थे, उनकी एक बड़ी अनोखी पद्धति थी। वे कहा करते थे कि जिस समय आनन्द और सुख की अनुभूति हो, उस समय तो भगवान का नाम खूब लेना चाहिए, परन्तु जब कोई संकट आ जाए, तब प्रभु का नाम बिल्कुल नहीं लेना चाहिए। वे कहा करते थे कि विपत्ति में उनका नाम लेने से, हमारे सुकुमार प्रभु को यह ध्यान आ जाएगा कि शायद हमें यह, विपत्ति से बचाने के लिए पुकार रहा है, और तब प्रभु को कष्ट उठाना पड़ेगा। इसलिए हमें अपनी विपत्ति का स्मरण प्रभु को नहीं कराना चाहिए। यद्यपि साधारण मनुष्य तो इस उच्च भाव की कल्पना भी नहीं कर सकता है, पर गोस्वामीजी ने विदेहनन्दिनी के रूप में भक्ति की इसी दिव्य भावना की ओर संकेत किया है। जयन्त ने जब उनके चरणों में प्रहार किया, तब सीताजी ने यह नहीं कहा कि देखिए प्रभु ? इस दुष्ट कौवे ने मेरे चरणों में प्रहार करके मुझे कष्ट पहुँचाया है, मेरे शरीर से रक्त निकल रहा है। गोस्वामीजी ने संकेत भी यही किया कि :—

सुरपति सुत धरि बायस बेषा।
सठ चाहत रघुपति बल देखा॥
जिमि पिपीलिका सागर थाहा।
महा मंदमति पावन चाहा॥ ३।०।५

तब देखा किसने :—

चला रुधिर रघुनायक जाना। ३।०।८

भगवान राम समझ गए। और तब प्रभु उसको मारने के लिए उसके पीछे दौड़े नहीं, अपितु किया क्या ? :—

सींक धनुष सायक संधाना।। ३।०।८

प्रभु ने एक सींक का धनुष बनाया तथा एक सींक का बनाया बाण। तथा उस सींक के बाण का प्रयोग जयन्त पर कर दिया। वह बाण जयन्त के पीछे-पीछे लग गया, और जहाँ जहाँ जयन्त जाता है, वह बाण उसे सर्वत्र दिखाई देता है।

ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका।
फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका।।
काहूं बैठन कहा न ओही।
राखि को सकइ राम कर द्रोही।। ३।१।५

तो प्रश्न यह उठता है कि जिन भगवान राम के बाण में इतनी सामर्थ्य है कि वह ब्रह्मलोक, शिवलोक तक व्यक्ति का पीछा कर सकता है, वही भगवान श्री राघवेन्द्र मारीच के पीछें-पीछे क्यों दौड़ते हैं ? और आप लोग यह भी ध्यान रखेंगे कि मारीच प्रभु के समक्ष दो बार आ चुका है। इससे पूर्व भी प्रभु से उसकी भेंट हो चुकी थी। इसीलिए रावण ने जब मारीच से प्रस्ताव किया कि तुम स्वर्णमृग बन जाओ, तब मारीच बेचारा तो भगवान राम का नाम सुनते ही डर के मारे थर-थर काँपने लगा। मारीच ने कहा रावण ! तुम तो राम से नए-नए परिचित हुए हो लेकिन मेरा तो उनसे बड़ा पुराना परिचय है। रावण ने पूछा कि तुम राम को कैसे जानते हो ? तो मारीच ने तुरन्त कहा कि :—

मुनिमख राखन गयउ कुमारा।
बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा।। ३।२४।५

जिस समय यह राजकुमार विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने के लिए गए थे, उस समय इन्होंने मेरे ऊपर एक ऐसे बाण का प्रयोग कर दिया, जिसकी विलक्षणता यह थी कि :—

उसने कहा कि एक ही बाण के द्वारा मैं सौ योजन (समुद्र के किनारे) आकर गिरा। इसका अभिप्राय है कि प्रभु में यह सामर्थ्य है कि वे एक स्थान पर बैठे-बैठे ही मारीच का वध कर सकते हैं। पर जब सीताजी ने प्रभु से कहा कि यह सोने का मृग मुझे ला दीजिए, तब भगवान राम तुरन्त अपनी कमर में फेंटा कस कर उस मृग के पीछे भागे, किन्तु अपने बाण का चमत्कार नहीं दिखाया। इस लीला के द्वारा भगवान राम बताना क्या चाहते हैं। प्रभु का मानो अभिप्राय यह है कि यदि कोई भक्त अपनी विपत्ति मुझे नहीं बताता है, फिर भी मैं तो अन्तर्यामी के रूप में सब कुछ जानता ही हूँ। इसीलिए कबीर से किसी ने पूछ दिया कि प्रभु से प्रार्थना करने के लिए कितना उच्च-स्वर होना चाहिए ? तो कबीर ने कहा भाई ! उसके कान तो इतने तेज हैं कि :—

"चींटी के पग नूपुर बाजे, वह भी साहब सुनता है।"

अगर चींटी के पैर में नूपुर बाँध दिया जाए तो उसकी ध्वनि भी ईश्वर सुन लेता है। अब आप कल्पना कीजिए, नन्हीं सी चींटी का पतला सा पैर और उसमें भी जो नूपुर बाँधा जाएगा उस नूपुर की ध्वनि कैसी होगी ? लेकिन वह उसको भी सुन लेता है, इतने तेज हैं उसके कान। भगवान मानो यह बताना चाहते हैं कि यज्ञ की रक्षा के समय यद्यपि विश्वामित्र ने मुझ से स्वयं नहीं कहा कि आप मारीच को मारिए, किन्तु मारीच के रूप में मुनिराज पर आने वाली विपत्ति को मैंने स्वयं देखा और बाण के द्वारा उसे दूर फेंक दिया। मारीच को दूर कर देने का अभिप्राय है कि जब भगवान भक्त के ऊपर कोई संकट देखते हैं तब अपने संकल्प रूपी बाण के द्वारा उस संकट को दूर फेंक देते हैं, क्योंकि प्रभु का बाण तो उनका संकल्प ही है। जयन्त के प्रसङ्ग में प्रभु ने सीताजी के पास बैठे ही बैठे उसे दंडित कर दिया। इसके द्वारा प्रभु यह बताना चाहते हैं कि जब कोई भक्त अपना संकट मुझे नहीं बताता है तब मैं उससे बिना दूर हुए ही उसके कष्ट को दूर कर देता हूँ। तथा मेरे और भक्त के बीच किसी प्रकार की दूरी उत्पन्न नहीं होती। जयन्त प्रसङ्ग के माध्यम से प्रभु यही शिक्षा देते हैं। लेकिन जब हम ईश्वर से स्वतः कोई माँग करते हैं, तो उसका सबसे पहला परिणाम होता है कि ईश्वर हमारे जीवन से दूर चला जाता है। स्वर्णमृग की याचना करने पर जब भगवान श्री राम दूर चले गए तो श्री सीताजी लंका में बैठ कर

रोने लगीं, और वे प्रभु का ध्यान करने लगीं। किन्तु उन्होंने प्रभु के किस रूप का ध्यान किया, इस विषय में गोस्वामीजी प्रभु की बड़ी ही अनोखी झाँकी की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। जनकपुर में सीताजी के साथ श्री राम का विवाह हुआ, वहाँ पर श्री राम के जिस स्वरूप का उन्होंने दर्शन किया, उस रूप का भी ध्यान कर सकती थीं। पर लंका में बैठकर सीताजी केवल इसी बात का ध्यान कर रही हैं कि मैंने प्रभु से मृग की याचना कर दी तथा भगवान श्री राघवेन्द्र मृग के पीछे भागे चले जा रहे हैं, गोस्वामीजी ने कहा कि :—

जेहि बिधि कपट कुरंग संग धाइ चले श्री राम।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम।। ३।२९

सीताजी को मानो यह प्रतीत हो रहा है कि मेरी अपेक्षा तो मृग का भाग्य अधिक है, क्योंकि प्रभु जैसे-जैसे मृग के पीछे दौड़ रहे हैं, वैसे-वैसे वे मृग के और निकट पहुँच रहे हैं; किन्तु मेरा इतना बड़ा दुर्भाग्य है कि भगवान श्री राम मुझसे दूर होते जा रहे हैं। इसका अभिप्राय है कि मनुष्य के जीवन में जब माँगने की वृत्ति आती है, तब व्यक्ति और ईश्वर के बीच भक्ति और भगवान के बीच दूरी उत्पन्न होती है। इसका संकेत करने के लिए ही प्रभु ने जान-बूझकर न तो जयन्त वाले बाण का प्रयोग किया और न ही उस बाण का उपयोग किया जिसका प्रयोग भगवान श्री राघवेन्द्र ने विश्वामित्र के यज्ञ में किया था। इसके अन्तरङ्ग रहस्य को स्पष्ट करने के लिए, मैं आपका ध्यान गीतावली की ओर आकृष्ट करना चाहूँगा। रामचरितमानस में तो यह वर्णन आता है कि विदेहनन्दिनी ने कहा कि :— **"प्रभु! इस मृग को मार कर मेरे लिए ला दीजिए"**। पर गीतावली रामायण में गोस्वामीजी ने इस प्रसङ्ग का और भी मधुर रूप दिया है। वहाँ पर सीताजी ने भगवान राम के समक्ष दो प्रस्ताव रखते हुए यह कहा कि महाराज! इस मृग को अगर आप पकड़ कर ला सकें, तो मैं इसको पाल लूँगी, पर यदि यह किसी प्रकार भी पकड़ में न आए, और इसपर बाण चलाना ही पड़े, तब इसका जो मृगचर्म होगा, उसके ऊपर आप आसीन हो जाइएगा। उन्होंने कहा या तो यह मेरे काम आ जाएगा, अथवा आपकी सेवा का सौभाग्य इसे प्राप्त होगा। वे कहती हैं कि :—

कपट कुरंग कनक मनिमय लखि पिय सों कहति हँसि बाला।
पाए पालिबे जोग मंजु मृग मारेहु मंजुल छाला।।
गीतावली-३।३

इसी प्रसङ्ग में आगे यह तुलनात्मक धारा चलती है। सीताजी के मन में स्वर्णमृग के प्रलोभन की आकांक्षा उत्पन्न हुई। वे उस मृग को पालतू बनाना चाहती हैं। तथा भगवान राम ने उनके अनुरोध को स्वीकार करके पहले तो उस मृग को पकड़ने की चेष्टा की, किन्तु अन्त में वे उसका बध कर देते हैं; इसका अभिप्राय है कि भगवान राम ने संसार को यह बता दिया कि भई लोभ कभी भी पकड़ में नहीं आता है, वह तो सर्वदा आगे ही दिखाई पड़ता है। एक कवि ने लोभ के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा कि :—

जौ दस, बीस, पचास मिलै, सत होइ हजारन लाख मगैगी।
कोटि अरब्ब, खरब्ब असंख्य पृथ्वीपति होन की चाह जगैगी।।
स्वर्गपाताल को राज मिलै तबहूँ तृष्ना अति आग लगैगी।
सुन्दर एक सन्तोष बिना सठ तेरी तो भूख कभी न बुझैगी।।

एक तो प्रभु का यह अभिप्राय था कि जो पकड़ में आएगा, वह लोभ हो ही नहीं सकता। व्यक्ति लोभ के पीछे भागता है, लोभ किसी के पीछे नहीं भागता। और जब भगवान राम से सीताजी ने यह कहा कि इस मृग को पकड़ लाइए या वध करके इसका चर्म ले आइए। तब प्रभु ने उन्हें संकेत कर दिया कि आपका पहला प्रस्ताव तो पूरा नहीं हो सकता, हाँ ! यदि पालने वाला मृग चाहती हैं, तो वह आकांक्षा आपकी अवश्य ही पूर्ण होगी। फिर आप देखेंगे कि सीताजी का पता लगाने के लिए भगवान राम ने श्री हनुमानजी को भेजा और हनुमानजी भी मृग हैं, उनके लिए रामायण में "**साखामृग**" शब्द लिखा गया है।

साखामृग कै बड़ि मनुसाई ।५।३२।७

तथा दूसरी तुलना यह है कि मारीच यदि स्वर्णमृग है, तो श्री हनुमानजी भी तो स्वर्ण के ही हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि हनुमानजी को देखकर ऐसा लगता है, कि जैसे साक्षात् सोने का पर्वत ही आ गया है।

अतुलित बलधामं हेमशैलाभदेहं।

श्री हनुमानजी को भेज कर प्रभु ने संकेत कर दिया कि सीते ! वह स्वर्णमृग केवल मारने योग्य ही था, किन्तु जो पालने योग्य मृग है, उसे

तो मैं अब तुम्हारे पास भेज रहा हूँ। जिसे पाकर जीवन में सन्तोष और तृप्ति का अनुभव होता है, वह तो यही मृग है। किन्तु प्रश्न यह है कि जब यह दोनों ही मृग हैं, दोनों ही सोने के रंग के हैं तथा मारीच में भी आकर्षण है और हनुमानजी में भी, फिर हनुमानजी को ही क्यों पाला जाए, मारीच को क्यों नहीं ? भगवान राम ने मानो संकेत किया कि अगर आप किसी सर्राफ की दुकान पर सोना बेचने जाएँ तो सुनार उसको हर प्रकार से परख कर ही उसका दाम लगाता है। सोने की परख के लिए सर्राफ लोग चार प्रकार की पद्धति काम में लाते हैं। और वे चार पद्धति हैं, कसौटी पर कसना, सोने में छेद करना, स्वर्ण को अग्नि में तपाना, तथा बजाकर देखना। एक कवि ने सोने को परखने की इन्हीं चार पद्धतियों का उल्लेख किया है।

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षणच्छेदन तापताड़नात् ।
तथा चतुर्भिः पुरुषं परीक्ष्यते, त्यागेन, शीलेन, गुणेन, कर्मणा ।

भगवान राम विदेहनन्दिनी के कहने से स्वर्णमृग के पीछे भागे तो प्रभु ने सोचा कि जरा परख कर तो देख लें कि सोना असली है या नकली। भगवान श्री राघवेन्द्र का तात्पर्य था कि इसके ऊपर तो सोना लगा हुआ है किन्तु भीतर क्या भरा हुआ है ? जिस वस्तु के पीछे हम भाग रहे हैं, देखने में तो वह स्वर्णिम प्रतीत होती है, पर क्या वह अन्तरंग में भी वैसी ही है ? प्रभु के द्वारा मारीच के ऊपर बाण का प्रहार करने का उद्देश्य भी उसकी वास्तविकता को प्रगट करना है। जैसे कोई व्यक्ति स्वर्ण-पत्र के द्वारा किसी वस्तु को मढ़ दे, परन्तु यदि उसमें भीतर लाख अथवा अन्य कोई साधारण वस्तु भरी हुई है तो ऊपर से देखने पर तो व्यक्ति को स्वर्ण ही स्वर्ण दिखाई देगा, परन्तु सर्राफ जब उसमें छेद करेगा तो भीतर भरी वह वस्तु बाहर आ जाएगी। यहाँ पर एक बात मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि जैसे भगवान श्री राम ने मारीचरूप सोने को परख करके देखा, वैसे ही रावण ने भी हनुमानजी रूप स्वर्ण की परीक्षा अग्नि में जलाकर ली, तथा यह सोना खरा निकला। लेकिन रावण इतना अभागा था कि फिर भी वह इस स्वर्ण के द्वारा लाभ प्राप्त नहीं कर सका। और हनुमानजी के रूप में जो स्वर्णमृग हमें दिखलाई दे रहा है, वह दिव्य स्वर्णमृग प्रेम का है। गोस्वामीजी एक ओर तो प्रेम को, सोने का प्रतीक मानते हैं तथा दूसरी ओर प्रलोभन को। अयोध्याकाण्ड में प्रेम की तुलना सोने से करते हुए गोस्वामीजी ने कहा कि :—

कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें ।
तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें ।।२।२०४।५

भगवान राम मानो यह बताना चाहते हैं कि प्रेम का दिव्य स्वर्ण तो अग्नि में जलाने पर भी सीताजी (भक्ति) का परित्याग नहीं करता है, किन्तु प्रलोभन का स्वर्ण बाहर से आकर्षक प्रतीत होता हुआ भी अन्त में जीव को ईश्वर से दूर बना देता है। और दोनों स्वर्ण मृगों का अन्तर भी प्रगट हो जाता है। हनुमानजी तो अग्नि में जले नहीं किन्तु मारीच रूप स्वर्णमृग की परीक्षा लेने के लिए प्रभु जब बाण के द्वारा उसमें छेद करते हैं, तब उसका राक्षसत्व (भीतरी वस्तु) प्रकट हो जाता है। किन्तु जब सीताजी की तरह ही व्यक्ति ईश्वर को प्रलोभन के पीछे लगा देता है तब व्यक्ति और ईश्वर के बीच दूरी पैदा हो जाती है। लेकिन दूरी उत्पन्न होने के पश्चात् भी रक्षा का एक उपाय था। प्रभु ने श्री सीताजी की रक्षा का भार लक्ष्मणजी पर सौंपा। गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान श्री राम जब जाने लगे, तब वे कहते हैं कि लक्ष्मण ! सीता की रक्षा अब तुम्हीं को करनी है।

सीता केरि करेहु रखवारी।
बुधि बिबेक बल समय बिचारी ।। ३।२६।९

यहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह है कि विदेहनन्दिनी की रक्षा कौन करेगा ? यह भार लक्ष्मणजी को इसलिए सौंपा गया ; क्योंकि लक्ष्मणजी मूर्तिमान **"वैराग्य"** हैं। प्रभु का अभिप्राय है कि जब मोह तथा प्रलोभन का आकर्षण आए, तब वैराग्य का ही यह कार्य है कि वह भक्ति देवी को बचाने की चेष्टा करे। और यदि लक्ष्मणजी पास में बने रहते तो कुछ समय के लिए ईश्वर से दूरी उत्पन्न होने पर भी भक्तिदेवी सुरक्षित थीं, शान्तिरूपा, श्री सीताजी सुरक्षित थीं। इसका अभिप्राय है कि प्रलोभन के कारण अगर कभी ईश्वर हमसे दूर भी चला जाए, किन्तु यदि संत समीप में है तो हमारे अन्तःकरण की भक्ति और शान्ति सुरक्षित रहती है। तथा ईश्वर पुनः लौट कर आ जाता है। किन्तु समस्या यह है कि मारीच के स्वर ने सीताजी के मन में संशय पैदा कर दिया। इसका अभिप्राय है कि मोह (रावण) की प्रेरणा से जो प्रलोभन आता है, वह भ्रम की सृष्टि करने के बाद अन्त में संशय की पराकाष्ठा तक पहुँचा देता है। लक्ष्मणजी ने विदेहनन्दिनी से कहा कि मां ! आप यह

शब्द कह रही हैं कि "प्रभु संकट में हैं और तुम जाकर उनकी रक्षा करो," किन्तु मैं तो यही याद दिलाना चाहता हूँ कि :—

भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।
सपनेहुँ संकट परइ कि सोई ।। ३।२७।४

जिन प्रभु के भृकुटि बिलास मात्र से सृष्टि का विनाश हो जाता है, क्या उन पर कभी संकट आ सकता है ? माँ ! आपके मन में यह संशय उत्पन्न कैसे हुआ ? लक्ष्मणजी की बात सुनकर जनकनन्दिनी के मन में श्रीराम के बल पर विश्वास तो उत्पन्न हुआ नहीं, अपितु एक नई समस्या और पैदा हो गई। पहले तो श्री सीताजी के मम में ईश्वर के बल के प्रति ही संशय था, किन्तु वह संशय इतना बढ़ गया कि अन्त में लक्ष्मणजी के चरित्र पर ही उन्हें संदेह हो गया, और तब रावण उनका अपहरण करने में समर्थ हो गया। इसके एक दूसरे पक्ष को भी आप ध्यान में रखिएगा। आप कहेंगे कि श्रीराम ने सीताजी को खो दिया तथा रावण उन्हें पाने में सफल हो गया। तो क्या सीताजी को पाने का सही मार्ग वही है जिसका प्रयोग रावण ने किया ? मोह, संशय, प्रलोभन अथवा भ्रम के मार्ग से क्या हम जीवन में शान्ति अथवा भक्ति को प्राप्त कर सकते हैं ? रावण को यह भ्रान्ति अवश्य है कि मैंने सीता को पा लिया, लेकिन मैं आप लोगों से यह पूछना चाहता हूँ, कि क्या सचमुच वह सीताजी को प्राप्त करने में सफल हो गया ? रामचरितमानस में एक बड़ी सांकेतिक बात यह आती है कि विदेहनन्दिनी को पाने के पहले, रावण को जो मिल चुका था, उन्हें प्राप्त करने के पश्चात् रावण ने उसे भी खो दिया। इसके लिए गोस्वामीजी बालकाण्ड में एक दृष्टान्त देते हैं।

जिस समय भगवान श्रीराम विवाह के पश्चात विदेहनन्दिनी को लेकर अयोध्या में आए, तब माताओं ने वर-वधू का स्वागत किया, उनकी आरती उतारी। उस समय किसी ने तुलसीदासजी से पूछ दिया कि श्रीराम और सीता को पुत्र तथा पुत्रवधू के रूप में देख कर माताओं को कैसा सुख प्राप्त हुआ ? तब गोस्वामीजी माताओं के सुख का वर्णन करने के लिए एक के बाद एक उपमा देने लगे। उन्होंने कहा कि श्रीराम को सीताजी के साथ देखकर कौशल्याजी, सुमित्राजी तथा कैकेयीजी को ऐसा सुख प्राप्त हुआ कि जैसे :—

पावा परम तत्व जनु जोगीं।
अमृत लहेउ जनु संतत रोगीं ।।१।३४९।६

जैसे योगी ने परमतत्त्व को प्राप्त कर लिया हो, तथा किसी जन्म के रोगी को कोई व्यक्ति अमृत लाकर पिला दे। गोस्वामीजी इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, अपितु तीसरी उपमा फिर देते हुए कहते हैं कि :—

जनम रंक जनु पारस पावा।१।३४९।७

जैसे किसी जन्म के दरिद्री ने पारस पा लिया हो। और इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि :—

अंधहि लोचन लाभ सुहावा ।।१।३४९।७

जैसे अन्धे को आँखें मिल गई हों। उससे भी सन्तोष नहीं हुआ, तो फिर कहते हैं कि :—

मूक बदन जनु सारद छाई।१।३४९।८

जैसे गूँगे व्यक्ति के ऊपर सरस्वती आ गई हो। और उससे जब सन्तोष नहीं मिला, तब सबसे अन्तिम दृष्टान्त देते हुए कहा कि :—

मानहुँ समर सूर जय पाई ।।१।३४९।८

जैसे योद्धा ने किसी महान युद्ध में विजय प्राप्त कर ली हो। जब गोस्वामीजी इतनी उपमाएँ दे चुके, तब सुनने वाले ने कहा कि महाराज ! अभी कितना कहते जाइएगा, अब तो इस प्रसंग को पूर्ण कीजिए। आपने एक साथ छः दृष्टान्त दे दिए। क्या सचमुच माताओं को इतना सुख मिला ? तो तुलसीदासजी बोले कि इतना ही नहीं, अपितु इसमें सौ करोड़ का गुणा कर दीजिए, तब पता चलेगा कि कितना सुख प्राप्त हुआ ?

एहि सुख ते सत कोटि गुन पावहिं मातु अनंदु।
भाइन्ह सहित बिआहि घर आए रघुकुलचंदु ।।१।३५०

इसका अर्थ है कि अयोध्या में जब श्री सीताजी आती हैं, तब वहाँ उन्नति की बाढ़ आ गई। किसी ने गोस्वामीजी से प्रश्न किया कि महाराज ! जब अयोध्या में जनकनन्दिनी के आगमन पर इतनी उन्नति हुई,

तब तो लंका में भी उनके आने के पश्चात चारों ओर सुख समृद्धि ही बढ़ती हुई दिखाई दे रही होगी। किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि रावण के जीवन में, पहले तो उन्नति ही उन्नति दिखाई दे रही थी, तथा महाशक्ति स्वरूपा श्री सीताजी को चुराकरके वह अपने आप को न जाने कितना आगे ले जाना चाहता था। पर उसके स्थान पर यह छहों विशेषताएँ रावण के जीवन से बिल्कुल अलग हो जाती हैं। छहों उपमाएँ लंका में पूरी तरह से उलट जाती हैं। पहला दृष्टान्त है :—**"पावा परमतत्त्व जनु जोगी"** अयोध्या में सीताजी के आगमन पर ऐसा लगा जैसे योगी ने परमतत्त्व को प्राप्त कर लिया हो। किन्तु रावण के जीवन पर बिल्कुल विपरीत प्रभाव पड़ा। अंगद ने रावण से कहा कि तुम विदेहनन्दिनी को सही मार्ग से क्यों नहीं पा लेते? तुम तो उन्हें चुराकर लाए हो, और चोरी की वस्तु पर किसी का अधिकार नहीं माना जाता है। एक व्यक्ति यदि कोई 'शाल' चुराकर लाए और दूसरा व्यक्ति बाजार से मूल्य देकर लाए तो इससे उस शाल के प्रभाव में तो कोई अन्तर आएगा नहीं। ऐसा तो होगा नहीं कि मूल्य देकर प्राप्त की गई शाल में शीत निवारण की अधिक क्षमता हो और चोरी की शाल उतनी गर्म न हो? तब प्रश्न यह उठता है कि फिर हम वस्तु को चोरी के द्वारा ही क्यों न प्राप्त करें? इसका उत्तर हम यों दे सकते हैं कि यद्यपि वस्तु के प्रभाव में तो कोई अन्तर नहीं पड़ता है, परन्तु दोनों प्रकार के व्यक्तियों की परिस्थिति में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि जो व्यक्ति खरीदकर शाल ओढ़ेगा, वह तो निश्चिन्तता का अनुभव करेगा, पर चोर को सर्वदा यही आशंका रहेगी कि कहीं ऐसा न हो कि जिसका शाल है, वह मुझे पकड़कर कारागार में बन्द करवा दे। इसका अभिप्राय है कि वह चुराई हुई शाल उसके लिए सर्वथा दुखदायी ही सिद्ध होगी। इसीलिए अंगद ने रावण से कहा कि, सीताजी को पाने के लिए तुमने अभी तक चोरी का मार्ग चुना, किन्तु हम अब भी तुमको एक अवसर देते हैं जिसके द्वारा तुम उन्हें सही मार्ग से पा सकते हो। और वह सही मार्ग क्या है? अंगद ने रावण से कहा कि मैं इस सभा में अपना पैर रोप देता हूँ, और तुम यदि उस पैर को हटा दोगे, तो श्रीराम यहाँ पर युद्ध करने के लिए नहीं आएँगे, तथा तुम सीताजी को प्राप्त कर लोगे। अंगद का वाक्य था कि :—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी।
फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥६।३३।९

तब रावण राक्षसों को आदेश देता है कि तुमलोग इस बन्दर का पैर पकड़ कर इसे लंका के बाहर फेंक दो। रावण के आदेशानुसार प्रत्येक राक्षस चेष्टा करता है लेकिन अंगद का पैर उठाना तो दूर, वे उसे हिला तक नहीं पाते। गोस्वामीजी से पूछा गया कि अंगदजी की प्रतिज्ञा का क्या तात्पर्य है ? तब उन्होंने कहा कि अंगद ने अपने पैर को मोह का प्रतीक मानकर ही यह प्रतिज्ञा की थी। अंगदजी का तात्पर्य था कि तुम मोह बिटप को उखाड़ने के बाद ही सीताजी को पा सकते हो। मोह से युक्त होकर यदि उन्हें पाना चाहते हो तो वह पाना सचमुच पाना नहीं है। पहले मोह को मिटाओ, तब श्री सीताजी को प्राप्त करो। किन्तु जब सारे राक्षस अंगद का पैर उठाने की चेष्टा में थक गए, तब अंगद ने व्यंग्य करते हुए कहा कि रावण ! अब तो तुम ही बचे हो। और अंगद की चुनौती को स्वीकार करके जब रावण स्वयं सिंहासन से उठकर अंगद के पैर की ओर झुका, तब अंगद ने बहुत बढ़िया व्यंग्य किया। वे बोले कि :—

गहत चरन कह बालि कुमारा।
मम पद गहे न तोर उबारा॥
गहसि न राम चरन सठ जाई। ६।३४।३

उनका अभिप्राय था कि तुम मेरे पैर के माध्यम से विदेहनन्दिनी को पाना चाहते हो कि श्री राम को ? यदि तुम प्रभु से प्रार्थना करो, तो तुम पुत्र बनकर जगज्जननी और जगत्पिता का वात्सल्य प्राप्त करके धन्य हो सकते हो। किन्तु तुम तो कुयोगी हो, और कुयोगी वही है, जो जगत् माता को चुरा कर ले आया हो, तथा उन्हें अपनी पत्नी के रूप में देखना चाहता हो। इसलिए गोस्वामीजी वहाँ पर शब्द यही देते हैं :—

पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी।
मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी॥ ६।३३।१४

इसका अभिप्राय है कि अयोध्या में सीताजी के आगमन पर **"पावा परमतत्त्व जनु जोगी"** के सुख की अनुभूति हुई तो लंका में गोस्वामीजी को **"पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी"** की पंक्ति उद्धृत करनी पड़ी।

दूसरी उपमा देते हुए कहा गया है कि :—

अमृत लहेउ जनु संतत रोगी। १।३४९।६

जनकनन्दिनी जब अयोध्या में आयीं तो ऐसा लगा कि जैसे रोगी को अमृत मिल गया हो। इसका अभिप्राय है कि अयोध्या के लोगों के अन्तःकरण में अगर कोई मानसिक रोग था तो वह भक्ति देवी के आगमन से दूर हो गया। लंका में सीताजी गईं तो रोग घटा नहीं अपितु रोग में जो कमी थी वह भी समाप्त हो गई। इसीलिए अङ्गद के सामने जब रावण बड़े जोर-जोर से बोलने लगा, तो किसी ने प्रश्न किया कि यह इतने जोर से क्यों बोल रहा है? तब अङ्गद बोले भई, यही तो मैं देखने आया था कि रावण का रोग कितना बढ़ गया है? इसका सूत्र रामचरितमानस में देते हुए बताया गया है कि अगर किसी व्यक्ति के मन में काम आ जाए तो समझ लेना चाहिए कि उसके मन में वातज्वर उत्पन्न हो गया है। यदि किसी के मन में क्रोध आ जाय तो समझ लेना चाहिए कि अब इसके मन में पित्तज्वर के लक्षण प्रगट हो गए हैं। और यदि किसी व्यक्ति में लोभ परिलक्षित हो, तो इसका अभिप्राय है कि उसके मन में कफज्वर की वृद्धि हो गई है। उन्होंने कहा कि :—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ ७।१२०।३०

एक जिज्ञासु ने गोस्वामीजी से प्रश्न किया, यदि यह तीनों ही किसी व्यक्ति में एक साथ ही आ जाएँ, तब क्या होगा? वे कहते हैं कि भाई! जब काम, क्रोध, लोभ तीनों एक साथ आ जाएँ, तब समझ लेना चाहिए कि अब इसे सन्निपात हो गया है। सन्निपात की परिभाषा करते हुए गोस्वामीजी यही कहते हैं कि :—

प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई॥ ७।१२०।३१

और जब रोगी प्रलाप करने लगता है तब सन्निपात असाध्य हो जाता है तथा व्यक्ति मृत्यु का ग्रास बन जाता है, उसे कोई बचा नहीं पाता। रावण की बक-झक को देखकर अङ्गद ने कहा कि सोने की लंका पर तुमने अधिकार कर लिया तथा दूसरे पर प्रहार किया, इसका अभिप्राय है कि लोभी और क्रोधी तो तुम पहले से ही थे, किन्तु सीताजी को चुराकर तुमने काम को और बुला लिया, इसलिए अब मैं समझ गया कि तुम्हें कौन सा रोग हुआ है। अङ्गद ने कहा कि :—

सन्यपात जल्पसि दुर्बादा ।
भएसि काल बस खल मनुजादा ।। ६।३२।६

तुम्हें तो सन्यपात हो गया है, अब तुम्हारी मृत्यु अवश्यम्भावी है ; इसका अर्थ यह हुआ कि रावण यदि सीताजी को भक्ति के रूप में प्राप्त करने की चेष्टा करता, तो काम, क्रोध, लोभ से मुक्त हो जाता । क्योंकि रामचरितमानस में यह कहा गया है कि मन के रोगों को मिटाने का सर्वोत्कृष्ट उपाय भक्ति देवी का आश्रय है ।

रघुपति भगति सजीवनि मूरी ।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी ।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं ।७।१२१।८

किन्तु रावण सीताजी को भक्ति के रूप में न लाकर वह तो माया के रूप में उन्हें लाता है । इसका तात्पर्य है कि जीवन में माया के आ जाने से मनुष्य के अन्तर्मन में दुर्गुण और भी बढ़ जाते हैं । रावण के जीवन में काम, क्रोध, लोभ की वृद्धि हो गई तथा अन्त में वह काल का ग्रास बन गया । इस प्रकार अयोध्या में यदि रोगी को "**अमृत प्राप्ति हुई**" तो लंका का रोगी रावण मृत्यु को प्राप्त करता है ।

तीसरी उपमा देते हुए गोस्वामीजी ने कहा कि :—

जनम रंक जनु पारस पावा । १।३४९।७

अयोध्या में जब श्री किशोरीजी आयीं तब ऐसा लगा कि जैसे किसी जन्म के दरिद्री ने पारस पा लिया हो । गोस्वामीजी का अभिप्राय है, कि श्री सीताजी हैं, साक्षात् पारस ; तथा पारस की विशेषता यह है कि वह यदि लोहे का स्पर्श कर दे तो लोहा भी सोने के रूप में परिणत हो जाता है । और यही प्रताप भक्ति देवी का है कि यदि भक्ति देवी का स्पर्श लोहे जैसे कठोर हृदय में हो जाए, तो वह कठोर हृदय भी वस्तुतः प्रेम-रूपी स्वर्ण की आकृति ग्रहण कर लेता है । गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री सीताजी जिस समय अयोध्या में आयीं, उस समय अयोध्यावासियों को "**जनम रंक जनु पारस पावा**" की सुखानुभूति हुई । पर वे जनकनन्दिनी जब लंका में आयीं तो वहाँ पर पारस का कोई चमत्कार नहीं दिखाई पड़ा । तब क्या यह मान लिया जाए कि पारस ही झूठा है ? तो गोस्वामीजी ने कहा कि भाई !

पारस का चमत्कार भी तो तभी दिखाई देगा जब उसका स्पर्श लोहे से कराया जाय। किन्तु यदि लोहे के स्थान पर अन्य कोई धातु उससे छुआ दी जाएगी तब तो वास्तविक पारस भी कोई परिवर्तन नहीं कर पाएगा। इसी प्रकार से हमारी दीनता का लोहा जब भक्ति के पारस का स्पर्श करेगा तो वह दीनता का लोहा स्वर्ण के रूप में परिवर्तित हो जाएगा। इसका अभिप्राय है कि जहाँ विनम्रता होगी, वहीं तो पारस का चमत्कार दिखाई देगा। इसीलिए तो कबीरदासजी ने भगवान से प्रार्थना की कि महाराज ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे मरने के बाद भले ही न मिलें किन्तु जीते जी अवश्य मिल जाएँ। प्रभु ने पूछा कि भई ! मरने के बाद मैं मिलूँ या जीते जी इसमें अन्तर क्या है ? तो उन्होंने कहा कि प्रभु ! मैं देखना चाहता हूँ कि मेरे पास जो लोहा है, वह असली है कि नकली ? भगवान ने पूछा कि उसको परखने की कसौटी क्या है ? तो उन्होंने कहा कि :—

जीवत में मोको मिलौ मूए मिलहु न राम।
जब लोहा माटी मिला तब पारस केहि काम॥

वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि मानव शरीर के रूप में यह जो लोहा है, उसको यदि आप परिवर्तित कर देंगे, तभी तो पारस की सार्थकता है। किन्तु मरने के बाद जब यह मिट्टी में मिल जाएगा, तब फिर पारस का क्या चमत्कार दिखाई देगा ? क्योंकि मरने के बाद इस शरीर का क्या होगा ? इसका क्या पता ? कबीरदासजी से किसी ने पूछा कि अमुक सज्जन की तो मृत्यु हो गई, आप बताइए कि वे स्वर्ग गए हैं कि नर्क ? कबीर तो बड़े विनोदी थे, उन्होंने कहा कि भई ! यह कैसे पता चले कि वे कहाँ गए हैं, क्योंकि :—

उतते कोउ न बहुरा जाते पूछौं धाइ।
इतते सब ही जात हैं भार लदाइ-लदाइ॥

उन्होंने कहा कि इधर से जाने वाले तो दिखाई दे रहे हैं किन्तु उधर से कोई आने वाला मिले, तो मालूम पड़े कि अमुक सज्जन स्वर्ग में मिले थे कि नहीं ? इसका अभिप्राय है कि कैसे पता चले कि कौन स्वर्ग में गया है और कौन नर्क में ? कबीर ने कहा कि मरने के बाद यदि भगवान मिलें तो फिर मिलन की सार्थकता क्या हुई ? गोस्वामीजी से किसी ने पूछ लिया कि क्या मरने के बाद किसी को मुक्ति मिलती है ? तो उन्होंने तुरन्त कहा कि :—

को जानें को जैहै जमपुर को सुरपुर परधाम को।

विनयपत्रिका-१५५

क्या पता कौन स्वर्ग में जाता है और कौन नर्क में ? जिज्ञासु ने पुनः प्रश्न किया, कि यदि यह समस्त धारणाएँ केवल मानी हुई हैं इनका कोई प्रमाण नहीं है, तो फिर भक्ति का फल क्या ? गोस्वामीजी ने समाधान देते हुए कहा कि पारस की विशेषता यही है कि वह लोहे को तुरन्त सोना बना देता है, उसमें अन्य किसी प्रक्रिया का पालन नहीं करना पड़ता। ठीक उसी प्रकार से भक्ति देवी का चमत्कार यही है कि उन्हें प्राप्त करके भक्त का तो जीवन ही धन्य हो जाता है। भक्त तो केवल यही चाहता है कि :—

को जानें को जैहै जमपुर को सुरपुर परधाम को।
तुलसिंहि बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को॥

इसका अभिप्राय है कि अयोध्या में जब सीताजी आयीं, भक्ति देवी का आगमन हुआ, तो वहाँ पर तत्काल आनन्द और सुख का दिव्य स्वर्ण छा गया। क्योंकि वहाँ पर विनम्रता थी। और लंका में भी सीताजी आयीं तथा सीताजी के पारस होने में भी सन्देह नहीं है। पर रावण के पास दैन्य और विनम्रता का कोई लोहा नहीं है, क्योंकि रावण तो अपने को चाँदी के समान मूल्यवान मानता है। और भई लोहे तथा चाँदी में यही तो अन्तर है। किसी व्यक्ति से पूछा गया, लोहा लोगे अथवा चाँदी ? उसने तुरन्त कहा चाँदी। उसकी यह माँग पूरी तरह सार्थक थी क्योंकि चाँदी का मूल्य अधिक है तथा लोहे का कम ; लेकिन एक व्यक्ति ने चाँदी के स्थान पर लोहे को माँगा, तब उससे पूछा गया कि तुम क्या इतने मूर्ख हो जो चाँदी छोड़कर लोहे को लेना चाहते हो ? तब उसने कहा, नहीं-नहीं मैं जानता हूँ कि चाँदी की अपेक्षा लोहे को दाम बहुत कम है, पर मुझे तो पारस मिल गया है, और मैं देखना चाहता हूँ कि पारस लोहे में कितना परिवर्तन कर सकता है। इसी प्रकार कुछ लोग अपने हृदय को लोहे के समान मूल्यहीन मानते हैं, तथा कुछ व्यक्ति अपने हृदय को चाँदी के समान मूल्यवान समझते हैं। जो अहंकारी हैं, उनका हृदय मानो चाँदी का बना हुआ है और जो विनम्र हृदय वाला भक्त है वह अपने अन्तःकरण को लोहे के समान मूल्यहीन मानता है। किन्तु अन्तःकरण रूपी लोहे से जब भक्ति रूपी पारस का स्पर्श होता है तब उसका अन्तःकरण स्वर्ण रूप में परिवर्तित हो जाता है ; लेकिन सीताजी के आ जाने से क्या रावण के जीवन में भक्ति

आ गयी ? क्या उसे शान्ति की प्राप्ति हो गयी ? क्या वह श्री राम का साक्षात्कार कर सका ? अपितु रावण के जीवन में तो एक भी लाभ दिखाई नहीं दिया। इसीलिए तो अङ्गद ने जब रावण से कहा कि यदि मेरा पैर हटा दोगे तो विदेहनन्दिनी तुम्हें मिल जाएँगी। तब रावण ने विचार किया कि अपनी ओर से तो मैंने सीताजी को प्राप्त कर लिया है, किन्तु अभी स्वयं सीताजी की ओर से तो इसकी स्वीकृति मिली नहीं है। किन्तु यदि बन्दर यह कहता है कि, पैर हटाने पर सीताजी मिल सकती हैं, तो क्यों न इसी मार्ग के द्वारा उन्हें प्राप्त कर लूँ। यह सोचकर जब रावण अङ्गद के पैर की ओर बढ़ा, तब अङ्गद ने व्यंग्य करते हुए कहा कि :—

गहत चरण कह बालि कुमारा।
मम पद गहे न तोर उबारा॥ ६।३४।२

अङ्गद ने कह दिया, रावण ! तुम एक बन्दर का पैर पकड़ रहे हो। रावण इस शब्द को सुनकर सिंहासन की ओर लौट पड़ा तथा उसको लज्जा का अनुभव हुआ। यदि उसमें विनम्रता होती तो वह चेष्टा करके देखता, किन्तु उसका अहंकार इतना प्रबल था कि अङ्गद की बात सुनकर तुरन्त सिर ऊपर उठाकर खड़ा हो गया, तथा लौटकर सिंहासन पर बैठ गया। इस दृश्य को देखकर गोस्वामीजी से किसी ने पूछ दिया कि इससे रावण को तो कोई हानि हुई नहीं। क्योंकि उसे तो सिंहासन ज्यों का त्यों मिल ही गया। उत्तर देते हुए उन्होंने कहा हाँ ! सिंहासन पर बैठने को तो बैठ गया लेकिन उसकी आकृति कैसी है ?

सिंघासन बैठेउ सिर नाई। ६।३४।५

मैं आपको यह भी बता देना चाहता हूँ कि इस प्रसङ्ग में रावण एक ऐसा कार्य कर बैठा, जिससे वह सर्वदा बचता था। रावण का यह स्वभाव था कि वह अपनी योग्यता, तथा बल की परीक्षा सार्वजनिक रूप में कभी नहीं देता था। जब वह लड़ने भी जाता था. तो पहले सेना को युद्ध करने के लिए भेज देता था, और बाद में स्वयं अकेले जाता था। रावण सोचता था कि सेना पहले जाकर शत्रु को अधमरा कर देगी, और मैं बाद में जाकर विजय का श्रेय प्राप्त करूँगा। रावण के मन में दूसरा संशय यह रहता था कि युद्ध में तो जुए की तरह जय-पराजय लगी रहती है। वह सोचता था कि यदि मैं सेना के साथ जाऊँगा तो पराजित होने पर मेरी ही हार

मानी जाएगी। किन्तु यदि मैं अकेले में हारूँगा तो कोई देखने वाला तो नहीं होगा, कोई यह तो नहीं कह सकेगा कि मैंने रावण को हारते हुए देखा है। शंकरजी के धनुष को न उठाने के पीछे भी उसका यही मनोविज्ञान था। क्योंकि जनकजी की घोषणा है कि सभा में धनुष उठाना पड़ेगा, और तब उसने यह सोचा कि सीता मिलें चाहे न मिलें किन्तु मैं सार्वजनिक परीक्षा नहीं दूँगा। लेकिन अङ्गद ने अपनी चतुराई के द्वारा उसे भरी सभा में परीक्षा देने के लिए बाध्य कर दिया। यद्यपि वह परीक्षा देना नहीं चाहता था, परन्तु अङ्गद की बात सुनकर रावण यह सोचने लगा कि यदि मैं अपनी सभा में ही एक बन्दर का पैर नहीं उठा पाया, तो लंकानिवासी राक्षसों के ऊपर मेरा जितना प्रभाव है, वह समाप्त हो जाएगा। यह लोग सोचेंगे कि हमने तो सुना था कि इसने कैलाश पर्वत को उठा लिया था, किन्तु जो व्यक्ति एक बन्दर का पैर नहीं उठा सका वह भला कैलाश पर्वत को क्या उठाएगा ? यह विचार कर रावण अपने सिंहासन से उठता है, किन्तु अङ्गद की व्यंग्य भरी वाणी के द्वारा वह पुनः परास्त होता है। इसका अभिप्राय है कि रावण ने पाया तो कुछ नहीं, अपितु पहले से सुरक्षित रखी हुई सम्पत्ति को भी उसने खो दिया। गोस्वामीजी इसी का संकेत करते हुए कहते हैं कि रावण को सिंहासन पर बैठते समय ऐसा लग रहा है जैसे :—

मानहुँ संपति सकल गँवाई ॥६।३४।५

इस प्रकार अयोध्या में विदेहनन्दिनी के आगमन पर यदि "**जनम रंक जनु पारस पावा**" की उपमा दी गई तो लंका में उनके आगमन पर "**मानहुँ संपति सकल गँवाई**" की अर्धाली लिखनी पड़ी। अगली उपमा देते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि :—

अंधहि लोचन लाभ सुहावा।।१।३४९।७

जैसे अन्धे को आँखें मिल गयीं हो। गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि जहाँ भक्ति है, वहाँ पर आँखें अवश्य हैं। उनसे जिज्ञासा प्रगट की गई कि महाराज ! यह आँखें काहे की प्रतीक हैं ? तो वे कहते हैं, ज्ञान और वैराग्य ही दो आँखें हैं।

"ज्ञान बिराग नयन" उरगारी।

उनका तात्पर्य है, जिसमें भक्ति है, उसके अन्तःकरण में ज्ञान और वैराग्य का होना स्वाभाविक है। इसीलिए विदेहनन्दिनी बीच में रहती हैं। तथा भगवान श्री राम और लक्ष्मण दोनों उनके साथ चलते हैं। भक्ति देवी का यही स्वरूप है कि उनके आगमन से व्यक्ति के निकट ज्ञान और वैराग्य स्वतः चले आते हैं। जनकनन्दिनी को रावण भी लंका में ले आया किन्तु उसको आँखें प्राप्त हुईं क्या ? इसका उत्तर रामचरितमानस में अंगद ने दिया। रावण की ओर देखकर अंगद ने कहा कि हनुमानजी ने मुझे यह समाचार दिया था कि संसार का सबसे अनोखा आश्चर्य लंका में है ; वहाँ पर बीस आँख वाला अन्धा रहता है किन्तु मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने सोचा कि जिस व्यक्ति के पास केवल दो आँखें होती हैं, उसकी यदि एक आँख खराब हो जाती है तब भी वह एक आँख से काम चला लेता है। परन्तु जिसके बीस-बीस आँखें हैं उनमें से दो एक आँख तो ठीक होंगी ही। लेकिन तुम्हें देखकर विश्वास हो गया कि हनुमानजी ने बिल्कुल सही कहा था। सचमुच तुम्हारी दशा यही है :—

"बीसहुँ लोचन अंध"...... ६।३३

तुम तो बीस आँख होने पर भी अन्धे हो। अङ्गद ने तो व्यंग्य करते हुए यह भी कह दिया, कि हनुमानजी ने तो केवल यही कहा था कि रावण बीस आँख वाला अन्धा है। पर मैं तो कहता हूँ कि तुम अन्धे ही नहीं, अपितु बहरे भी हो।

अंधउ बधिर न कहहिं अस नयन कान तव बीस। ६।१२।

अगर तुम देख पाते तो श्री राम और सीता के दर्शन करके धन्य हो जाते। और यदि सुन पाते तो हनुमानजी तथा विभीषण की वाणी पर विश्वास करके उनके उपदेश को अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करते। पर लगता है कि तुम्हारे आँख और कान तो बीस-बीस हैं, किन्तु न तो तुम देख पाते हो और न ही सुन पाते हो। गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि अयोध्या में जब सीताजी ज्ञान (श्री राम) वैराग्य (श्री लक्ष्मण) के साथ आईं, तो समस्त माताओं को '**अंधहि लोचन लाभु सुहावा**'' की अनुभूति हुई। किन्तु जब रावण ने ज्ञान, वैराग्य को मिटाकर सीताजी को प्राप्त करने की चेष्टा की, तो उसमें अन्धापन आ गया।

पाँचवीं उपमा देते हुए गोस्वामीजी ने कहा कि अयोध्या में सीताजी आयीं तो ऐसा लगा कि जैसे गूँगे व्यक्ति की जिह्वा पर सरस्वती विराजमान हो गईं हों।

मूक बदन जनु सारद छाई । १।३४९।८

सरस्वतीजी का परिचय देते हुए रामचरितमानस में लिखा गया है कि सरस्वती कठपुतली हैं, और उस कठपुतली को नचाने वाले हैं श्री राम ।

सारद दारुनारि सम स्वामी ।
रामु सूत्रधर अंतरजामी ।। १।१०४।५

इसीलिए गोस्वामीजी से किसी ने कहा कि आप तो बहुत बड़े कवि हैं। तो उन्होंने तुरन्त कहा कि यह तो आपको लग रहा है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि :—"**कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ**" परन्तु उसके पश्चात् गोस्वामीजी लिखते हैं कि :—"**रामचरितमानस कवि तुलसी**" (रामचरितमानस का कवि तुलसीदास है) किसी पाठक ने प्रश्न कर दिया, आपने पहले जो कहा था कि (मैं कवि नहीं हूँ) वह ठीक है, अथवा अब जो कह रहे हैं, कि "**रामचरितमानस का कवि तुलसीदास है**" यह ठीक है । गोस्वामीजी ने कहा कि भई ! पहले तो मैं कवि नहीं था, पर अब हो गया हूँ । कैसे हो गए हैं ? इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि :—

सादर दारुनारि समस्वामी ।
रामु सूत्रधर अंतरजामी ।।
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी ।
कबि उर अजिर नचावहि बानी ।। १।१०४।६

उनका तात्पर्य है कि कविता तो मानो सरस्वतीजी का नृत्य है। और भगवान राम ने इस जिह्वा के रंगमंच पर सरस्वती का नृत्य करा दिया और तब लोगों को लगा कि तुलसीदासजी कविता कर रहे हैं। किन्तु सूत्रधार के रूप में इस कठपुतली को परदे के पीछे खड़े होकर नचाने वाले जो श्री राम हैं उनके ऊपर किसी की दृष्टि नहीं गयी । इसका अभिप्राय है कि भक्ति-युक्त अन्त:करण से जब कोई भगवान का स्मरण करता है, तब उसकी जिह्वा पर सरस्वती नृत्य करने लगती हैं। जिज्ञासु ने पुन: प्रश्न किया कि भक्ति रूपा सीता का आगमन जब लंका में हुआ, तब रावण की जिह्वा पर सरस्वती आयीं कि नहीं ? गोस्वामीजी ने उत्तर दिया कि भाई ! रावण की जिह्वा पर भी सरस्वती आयीं तो अवश्य, पर उनके आने का उद्देश्य भिन्न था। जिस समय रावण ने हनुमानजी को दृष्टिगत रख कर राक्षसों को आज्ञा दी कि

इस बन्दर को मार डालो, तथा राक्षस भी हनुमानजी को मारने दौड़े, तब विभीषण ने रावण से प्रार्थना करते हुए कहा कि :—"**नीति विरोध न मारिय दूता**"। दूत को मारना नीति के विरुद्ध है। तब रावण ने कहा कि इसे मृत्युदण्ड तो नहीं दिया जाएगा किन्तु कुछ न कुछ दण्ड इस बन्दर को अवश्य प्राप्त होगा। और तब उसने अपने आदेश में संशोधन करते हुए कहा कि इसकी पूँछ में कपड़ा, तेल, घी आदि लपेट कर आग लगा दी जाय। जब यह बात हनुमानजी ने सुनी तो उन्होंने रावण की ओर मुस्कुरा कर देखा और बोले कि "**लगता है सरस्वतीजी रावण की जिह्वा पर आ गयीं हैं**"।

बचन सुनत कपि मन मुसुकाना।
भइ सहाय सारद मैं जाना॥ ५।२४।३

हनुमानजी सोचने लगे, कि जब त्रिजटा ने अपना स्वप्न सुनाते हुए यह कहा कि "**सपने बानर लंका जारी**" तो मुझे इस बात पर विश्वास ही नहीं हुआ। मैंने सोचा कि लंका जलाने के लिए घी, तेल, कपड़ा इत्यादि मैं कहाँ से लाऊँगा। किन्तु यह सारा प्रबन्ध, रावण की ओर से ही हो रहा है, तब तो यही मानना पड़ेगा कि "आज रावण की जिह्वा पर भी हमारे प्रभु ही सरस्वती को नचा रहे हैं। गोस्वामीजी का तात्पर्य है कि अन्य स्थानों पर तो सरस्वती आती हैं, ज्ञान तथा कल्याण का सन्देश लेकर, किन्तु लंका में वे विवेक देने के लिए नहीं अपितु सर्वनाश कराने के लिए आयीं।

गोस्वामीजी छठा तथा अन्तिम दृष्टान्त देते हैं :—

मानहुँ समर सूर जय पाई। १।३४९।८

अयोध्या में विदेहनन्दिनी के आने से ऐसा लगा कि जैसे योद्धा ने युद्ध में विजय प्राप्त कर ली हो। सीताजी के आने के पश्चात् विजय का तात्पर्य क्या है? इसका उत्तर देते हुए गोस्वामीजी उत्तरकाण्ड में बताते हैं कि युद्ध में किस प्रकार विजय प्राप्त की जाती है, और जीत करके क्या पाया जाता है? वे कहते हैं कि :—

बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि। ७।१२०।ख

जब ज्ञान की तलवार तथा वैराग्य की ढाल के द्वारा व्यक्ति मोह और प्रलोभन पर प्रहार करता है, तब अन्त में उसे विजय मिलती है। **"विजय के रूप में क्या प्राप्त होता है"** ? इसका संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि :—

जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि ॥ ७।१२०।ख

इनका अभिप्राय है कि जिस व्यक्ति के हृदय से मोह तथा प्रलोभन मिट गया है, वह व्यक्ति भक्ति देवी को प्राप्त करके धन्य हो जाता है। किन्तु रावण का सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यही है कि मोह और प्रलोभन को मिटाने के स्थान पर वह मोह तथा प्रलोभन के द्वारा सीताजी को आकृष्ट करना चाहता है। अयोध्या में इन दुर्गुणों को मिटाकर जब सीताजी को प्राप्त किया गया तो जिस दिन से वे अयोध्या में आयीं, उस दिन से वहाँ पर क्या हो रहा है ? गोस्वामीजी ने कहा :—

जब ते रामु ब्याहि घर आए।
नित नव मंगल मोद बधाए ॥ २।०।१

लेकिन जब से श्री सीताजी लंका में आयीं, तब से लंका की क्या स्थिति है ? इसका वर्णन करते हुए माल्यवान ने रावण से कहा कि :—

जब ते तुम्ह सीता हरि आनी।
असगुन होहिं न जाहिं बखानी ॥ ६।४७।७

जब से तुम जनकनन्दिनी को लंका में लाए हो, तभी से लंका में सर्वनाश हो रहा है। पुत्र मारा गया, सोने की लंका जल गयी, किन्तु इतना होने के बाद भी तुम यह अनुभव नहीं कर पा रहे हो कि तुम किसे ले आए हो ? तथा विभीषणजी ने भी यही कहा कि वस्तुतः सीता तो लंका में काल रात्रि के समान आयी हैं।

कालराति निसिचर कुल केरी।
तेहि सीता पर प्रीति घनेरी ॥ ५।३९।८

पर प्रश्न यह है कि सीताजी अँधेरी रात्रि हैं अथवा प्रकाशमयी रात्रि ? गोस्वामीजी ने यह कहा कि भई ! पूर्णिमा की रात्रि तथा अमावस्या की

रात्रि में केवल यही तो अन्तर है कि जिस रात्रि में पूर्ण चन्द्रमा हो, वह पूर्णिमा की रात्रि है, और जिसमें चन्द्रमा का सर्वथा अभाव हो वह अमावस्या की रात्रि है। अन्तर चन्द्रमा के होने, न होने में है, किन्तु रात्रि-रात्रि में कोई अन्तर नहीं है। इसका अभिप्राय है कि सीताजी (भक्ति) तो रात्रि हैं, और चन्द्रमा कौन है ? गोस्वामीजी इसका संकेत करते हुए अरण्यकाण्ड के अन्त में कहते हैं कि चन्द्रमा तो एक मात्र 'रामचन्द्र' ही हैं।

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।३।४२ (क)

इसका अभिप्राय है कि सीताजी के साथ जब तक "रामचन्द्र" रहते हैं तब तक तो वे पूर्णिमा की रात्रि रहती हैं, पर यदि कोई रामचन्द्र को हटाकर सीताजी को पाना चाहता है, तो वे उसके जीवन में अँधेरी रात्रि बनकर आती हैं। भगवान को छोड़कर भक्ति को पाने की इच्छा, ईश्वर का विरोधी बनकर जीवन में सफलता पाने की आकांक्षा ही रावण का लक्ष्य है। भगवान ने इसके माध्यम से मानो यह दिखाया, कि कुछ लोग प्राप्त करके भी कैसे नहीं पाते हैं। और श्री सीताजी की खोज के सम्बन्ध में भगवान राम ने जब शबरीजी से जिज्ञासा प्रगट की, तब शबरी ने कहा कि आप सुग्रीव से मित्रता कीजिए, उन्होंने बालि का नाम नहीं लिया। यद्यपि बालि बड़ा भारी पुण्यात्मा है, इन्द्र के अंश से उसका जन्म हुआ है। पर इतना होते हुए भी बालि के द्वारा सीताजी की प्राप्ति नहीं होगी। भले ही सुग्रीव भागने वाले दिखाई देते हैं, उनमें दुर्बलता दिखाई देती है, पर शबरीजी कहती हैं कि प्रभु ! यदि सीताजी का पता लगाना है तो सुग्रीव को ही मित्र बनाना होगा। बालि के द्वारा सीताजी क्यों नहीं मिलती हैं ? तथा सुग्रीव के द्वारा वे कैसे मिलेंगी ? इसकी चर्चा हम कल से प्रारम्भ करेंगे, आज इतना ही।

"बोलिए सियाबर रामचन्द्र की जय"

श्री रामः शरणं मम

चतुर्थ प्रवचन

जनक सुता कइ सुधि भामिनी।
जानहि कहु करिवरगामिनी।।
पंपा सरहि जाहु रघुराई।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई।।
सो सब कहिहि देव रघुबीरा।
जानतहूँ पूछहु मतिधीरा।।
बार बार प्रभु पद सिरु नाई।
प्रेम सहित सब कथा सुनाई।।

कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदयँ पद पंकज धरे।
तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।।
नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू।।
जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्हि असि नारि।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि।। ३।३६

आइए अब कुछ समय के लिए एकाग्र तथा भक्ति युक्त अन्तःकरण से भगवान श्री राघवेन्द्र विदेहनन्दिनी श्री सीताजी की खोज का जो मार्ग अपनी नर लीला के द्वारा प्रस्तुत करते हैं, उसके रहस्य को हृदयङ्गम करने की चेष्टा करें।

विदेहनन्दिनी के अपहरण के पश्चात भगवान श्री राघवेन्द्र उनका अन्वेषण करते हुए भक्तिमती शबरी के आश्रम में पहुँचते हैं, तथा उनके

समक्ष वे अपनी जिज्ञासा प्रगट करते हैं कि आप जनकनन्दिनी की प्राप्ति का उपाय मुझे बतावें। प्रभु के वाक्य को सुनकर शबरीजी संकोच में गड़ जाती हैं, परन्तु वे भगवान श्री राम के आग्रह को टाल नहीं पाती हैं। तथा प्रभु से अनुरोध करती हैं महाराज! यद्यपि आप तो सब कुछ जानते हैं परन्तु फिर भी मैं यही कहना चाहूँगी कि आप पम्पासर की यात्रा करें। वहाँ सुग्रीव से आपकी मित्रता होगी, और उसके पश्चात् आपको विदेहनन्दिनी का पता लगेगा। प्रवचन के प्रथम दिन यह प्रश्न आपके समक्ष रखा गया था कि यदि केवल वाह्य दृष्टि से देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि सीताजी की प्राप्ति में बालि की मित्रता जितनी उपयोगी सिद्ध हो सकती थी उतनी सुग्रीव की मित्रता नहीं। क्योंकि बालि रावण का विजेता है, अदम्य साहसी है, तथा बालि जीवन में कभी भी पराजय को स्वीकार ही नहीं करता है। लेकिन भगवान श्री राम ने शबरीजी के संकेत के अनुसार उन सुग्रीव से मित्रता की जिनमें साहस की कमी है, तथा आतंकित होकर भाग खड़े होने वाली प्रवृत्ति उनके जीवन में पग-पग पर दिखायी देती है। ऐसे दुर्बल चरित्र वाले सुग्रीव के माध्यम से सीताजी की प्राप्ति का जो सूत्र शबरीजी ने दिया उसका तात्पर्य क्या था? तथा भगवान श्री राघवेन्द्र ने उसे किस अर्थ में ग्रहण किया? आइये इस प्रश्न पर थोड़ा विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करें। इस प्रश्न पर विचार करने पर सबसे पहले हमें यह जानना होगा कि श्री सीताजी का स्वरूप क्या है? इसका संकेत प्रथम दिवस के प्रवचन में मैंने किया था कि श्री सीताजी भक्तों की दृष्टि में मूर्तिमती भक्ति हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि संशय के कारण यदि हमारे जीवन से भक्ति दूर चली गयो हों और हम पुनः उन्हें प्राप्त करना चाहते हों तो सुग्रीव के माध्यम से ही उनकी उपलब्धि क्यों होगी, बालि के माध्यम से क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए यदि हम बालि और सुग्रीव के आध्यात्मिक स्वरूप पर विचार करें तो इसका उत्तर हमें बड़ी सरलता से प्राप्त हो जायगा।

बालकाण्ड में वर्णन आता है कि पृथ्वी रावण के अत्याचार से ब्याकुल होकर अपनी समस्या का समाधान पाने के लिए मुनियों के पास जाती है। पर मुनियों ने कहा पृथ्वी! हम यह जानते हैं कि तुम रावण के अत्याचारों से आक्रान्त हो, किन्तु इस समस्या का समाधान देने की क्षमता हम लोगों में नहीं है। तब पृथ्वी और मुनि मिलकर देवताओं के पास जाते हैं तथा देवताओं को साथ लेकर वे ब्रह्मा के समीप पहुँचते हैं। लेकिन ब्रह्मा भी यही स्वीकार करते हैं कि रावण को वरदान देने के पश्चात वे विवश हो चुके हैं तथा उनके लिए भी यह सम्भव नहीं है कि समय से पूर्व रावण के विरुद्ध

कुछ कर सकें। किन्तु ब्रह्मा ने उन लोगों से कहा कि यद्यपि रावण के विरुद्ध कुछ कर पाना हमारे लिए तो सम्भव नहीं है, परन्तु आइए हम लोग प्रार्थना के द्वारा भगवान को प्रसन्न करने की चेष्टा करें। तब सबने मिलकर ब्रह्मा के नेतृत्व में भगवान की अत्यन्त करुण प्रार्थना की, और उस प्रार्थना को सुनकर आकाशवाणी में देवता, मुनियों तथा पृथ्वी को आश्वासन देते हुए कहा गया कि :—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा।।
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा।।
कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा।।
ते दशरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा।।
तिन्ह कें गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुलतिलक सो चारिउ भाई।।
नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।।
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई।।
१।१८६।७

प्रभु ने कहा कि आप लोग निर्भय हो जाइए, मैं मनुष्य शरीर धारण करूँगा। मुझे पुत्र रूप में प्राप्त करने के उद्देश्य से कश्यप और अदिति ने पूर्वजन्म में महान तप किया है। वे दशरथ तथा कौशल्या के रूप में जन्म ले चुके हैं। मैं उनके घर में अवतरित होउँगा, तथा अपने आपको चार रूपों में प्रगट करूँगा। भगवान ने पृथ्वी को भी आश्वस्त करते हुए कहा कि मैं तुम्हारा समस्त भार दूर करके मुनियों तथा देवताओं का संकट दूर करूँगा। जब ईश्वर की यह वाणी देवता और मुनियों को सुनाई पड़ी, तब उन लोगों पर उसका क्या प्रभाव पड़ा, गोस्वामीजी इसका बड़ी सांकेतिक भाषा में वर्णन करते हुए कहते हैं कि :—

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना।। १।१८६।८

उन्होंने कहा कि "आकाशवाणी सुनते ही देवताओं की छाती ठंडी हो गयी और वे तुरन्त वहाँ से लौट पड़े"। इसमें देवताओं की मनोवृत्ति पर बड़ा अच्छा कटाक्ष किया गया है। जब ब्रह्मा ने यह देखा कि देवता बड़े उतावले होकर अपने अपने धाम को जा रहे हैं तब पितामह ब्रह्मा ने देवताओं से पूछा कि इतनी व्यग्रता से कहाँ जा रहे हो? जरा इधर तो आइए। देवताओं ने कहा महाराज! जब भगवान ने आश्वासन दे ही दिया है कि तुम लोग निर्भय हो जाओ, पृथ्वी का समस्त भार मैं दूर कर दूँगा, तो फिर हम लोग आनन्द से अपने स्वर्ग के सुखों को भोगें। जब ईश्वर ही सब कर देगा तो फिर हमें क्या करना है? यही सत्य समाज का भी है। कभी-कभी प्रार्थना करने वाले के मन में यह बात आती है कि

अगर भगवान ने हमारी प्रार्थना सुन ली तो फिर हमें कुछ नहीं करना धरना है, जो कुछ करना है वह तो भगवान ही करेंगे। लेकिन पितामह ब्रह्मा जो बात कहते हैं, उसी प्रकार का संकेत भगवान कृष्ण गीता में भी करते हैं। वे कहते हैं कि "मेरा स्मरण करो" लेकिन स्मरण के साथ-साथ वे एक बात पर और भी अधिक जोर देते हैं। उन्होंने कहा :—

"मामनुस्मर युद्ध च"

"मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो।" इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर के स्मरण का यह तात्पर्य बिल्कुल नहीं है कि व्यक्ति भगवान की कृपा के भरोसे निष्क्रिय होकर बैठ जाए। यह मानो गोस्वामीजी ने एक प्रकार का व्यंग्य किया, और उसमें विशेष रूप से देवताओं का नाम लिया। इस पंक्ति में पृथ्वी तथा मुनियों का नाम न लेकर केवल देवताओं का नाम लिया गया। इसका अभिप्राय है कि मुनि मननशील थे इसलिए वे भगवान के वाक्यों पर मनन करने लगे (उसके अर्थ का चिन्तन करने लगे)। तथा पृथ्वी ने यह सोचा कि आकाशवाणी के पश्चात् उसकी सही-सही व्याख्या पितामह ब्रह्मा के द्वारा समझ लेनी चाहिए। यह विचार कर पृथ्वी तथा मुनि लोग लौटने के लिए उतावले नहीं हैं। लेकिन भोगों में आसक्त रहने वाले जो देवता हैं वे अब अधिक रुकने की मनःस्थिति में नहीं हैं। इसका मनोविज्ञान यह है कि समाज में अधिकांश लोग सद्गुण सम्पन्न तो होते हैं, किन्तु स्वर्ग के देवताओं की जो दुर्बलता है वही दुर्बलता मृत्युलोक के इन देवताओं की भी है। स्वर्ग का देवता सद्गुण का पक्षधर होते हुए भी स्वयं उसके लिए सक्रिय रूप से कुछ करने के लिए प्रस्तुत नहीं है। क्योंकि उसके मन में सबसे तीव्र आकांक्षा यही है कि किसी भी प्रकार से हमारे स्वयं का भोग हमें सुरक्षित प्राप्त होता रहे। और जब उसके अन्तःकरण में भोगों के प्रति इतनी आसक्ति है तो भले ही वह भगवान राम का भक्त हो पर अपने भोगों की रक्षा के लिए वह रावण से भी समझौता करने में संकोच नहीं करता। देवताओं के इसी मनोभाव पर गोस्वामीजी बार बार व्यंग्य करते हैं। अयोध्याकाण्ड में प्रसंग आता है कि जब चित्रकूट में भगवान राम का आगमन होता है, तब उनका स्वागत करने के लिए देवता आ जाते हैं :—

अमर नाग किंनर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला॥ २।१३३।१

और भगवान श्री राघवेन्द्र ने जब देवताओं को देखा तो प्रभु ने उन्हें प्रणाम किया।

राम प्रनामु कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचन लाहू॥ २।१३३।२

अब गोस्वामीजी ने यहाँ पर बड़ी ही मनोवैज्ञानिक बात कही है। तथा सुग्रीव के सन्दर्भ में भी यही प्रश्न उपस्थित होता है, कि यदि देवताओं में

इतनी अधिक दुर्बलता है तो फिर उन्हें हम देवता क्यों स्वीकार करते हैं ? भगवान इन देवताओं को इतना अधिक महत्व क्यों देते हैं ? मुख्य रूप से इसका अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति तो वह है जिसके मन में दुर्गुणों के प्रति आसक्ति है, वह दुर्गुणों को छोड़ना नहीं चाहता, अपितु दुर्गुणों पर गर्व करता है। उस व्यक्ति को हम राक्षस कहते हैं, क्योंकि वह बुद्धि के द्वारा दुर्गुणों का समर्थन करता हुआ अपने विवेक का दुरुपयोग ही करता है। तथा दूसरा व्यक्ति वह है जिसके जीवन में दुर्गुणों के प्रति घृणा तो है, जो बुद्धि के द्वारा उन्हें छोड़ना तो चाहता है किन्तु अत्यधिक भोगासक्ति के कारण वह अपने विचार को जीवन में नहीं उतार पाता। हाँ, बुराई को बुराई अवश्य स्वीकार करता है। उसे हम देवता मानते हैं, तथा भगवान उन लोगों को अधिक महत्व देते हैं। गोस्वामीजी मानो यह बताना चाहते हैं कि जो लोग सक्रिय रूप से बुराई का विरोध करते हैं आदर्श तो वे ही हैं, किन्तु अगर हम सक्रिय होकर विरोध न कर सकें तो भी कम से कम अपने विवेक के द्वारा तो हमें अच्छाई का समर्थन करना चाहिए, यद्यपि आदर्श यह नहीं है। प्रभु जानते हैं कि देवताओं के हृदय में दुर्गुणों के प्रति प्रीति नहीं है, भले ही यह बेचारे परिस्थितियों से बाध्य होकर दुर्गुणों के साथ समझौता करते हुए दिखाई दें। भगवान श्री राघवेन्द्र उनकी इसी आन्तरिक अभिलाषा को जानकर उन्हें समादर देते हैं। गोस्वामीजी से किसी पाठक ने जिज्ञासा प्रकट की कि महाराज ! कथा सुनने की सार्थकता तो तभी है जब कि व्यक्ति उसे अपने जीवन में उतारे। तो उन्होंने कहा कि भई ! तुम्हारी बात तो उचित ही है, लेकिन व्यक्ति यदि यही मान ले कि कथा तो हम तभी सुनेंगे, जब उसे जीवन में उतारने की क्षमता हम में आ जाएगी। यदि हम यह निर्णय कर लें कि अच्छी बात को जब हम व्यावहारिक रूप में परिणत नहीं कर पा रहे हैं, इसलिए अच्छी बात सुनना भी बन्द कर दें तो यह प्रवृत्ति उचित नहीं मानी जा सकती। महात्मा गाँधीजी की जीवनी में इसी प्रकार की एक गाथा आती है जिसमें यह बताया गया है कि एक महिला जब भजन करने के लिए बैठती थीं तो उनका मन इधर उधर डोल जाता था, तथा भजन में नहीं लगता था। तब उन्होंने माला को उठाकर अलग रख दिया तथा महात्मा गाँधीजी के पास पत्र लिखकर भेजा कि भगवान का भजन तो सच्चे हृदय से करना चाहिए। जो भजन सच्चे मन से नहीं किया जाता वह तो पाखंड है, दम्भ है। और जब मेरा मन भगवान में नहीं लगता तो यह विचार कर मैंने भजन करना छोड़ दिया है क्योंकि मैं पाखंड नहीं करना चाहती। उन महिला के पत्र का बड़ा सार्थक उत्तर देते हुए महात्माजी ने कहा कि देवीजी ! यह उल्टा पाठ आपने कैसे पढ़ लिया ?

अरे, पाखंड को मिटाने की चेष्टा कीजिए भजन को नहीं, किन्तु आपने तो भजन को ही मिटा दिया। इसका तात्पर्य यह है कि हम श्रेष्ठ बात को अपने जीवन में नहीं उतार पाएँगे इसलिए उसे सुनें ही नहीं, वस्तुतः यह तो न सुनने का बहाना मात्र है। रामचरितमानस की दृष्टि में यह तर्क मान्य नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं कि भाई! जो व्यक्ति सुनने के बाद मनन करते हैं, तथा मनन करने के पश्चात् उसे जीवन में उतारते हैं वे तो धन्य हैं ही :—

"जेहि कहत गावत सुनत समुझत परम पद नर पावई"

पर इसके साथ साथ वे यह वाक्य भी जोड़ देते हैं कि अच्छी बातें कहिए, सुनिए तथा उन्हें व्यवहार में लाने की चेष्टा भी कीजिए। और अगर अच्छाई को पूरी तरह से हम अपने जीवन में न भी उतार सकें, लेकिन वाणी के द्वारा तो सद्गुणों का समर्थन अवश्य ही करें।

कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं।७।१२८।६

यह "अनुमोदन करना बड़ी अच्छी बात है" भले ही वह पूर्णता की दृष्टि से आदर्श न हो पर मानव जीवन में क्रमिक विकास के लिए यह परम आवश्यक है। देवताओं की प्रकृति यही है कि अपनी ओर से रावण के अत्याचार को मिटाने की बात तो उनके मन में नहीं आई, पर पृथ्वी तथा मुनियों के साथ सम्मिलित होकर यह लोग भी भगवान से प्रार्थना करते हैं कि प्रभु! आप कृपा करके रावण के अत्याचार से संसार को मुक्ति दिलाइए। यहाँ तक तो देवताओं का कार्य ठीक था। किन्तु उसके पश्चात् भोगों के प्रति उनकी आसक्ति प्रबल हो जाती है। वे सोचने लगे कि भगवान ने तो प्रार्थना सुन ही ली, अब हमें कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। देवताओं के चरित्र की इस दुर्बलता पर गोस्वामीजी ने कई प्रसंगों में व्यंग्य किया है। वर्णन आता है कि जिस समय भगवान राम, खर-दूषण आदि चौदह हजार राक्षसों से युद्ध कर रहे थे, उस समय अपने-अपने विमानों पर बैठकर देवता उस युद्ध को देख रहे थे। पर गोस्वामीजी का सबसे बड़ा व्यंग्य यह था कि जो लड़ रहा था उसे तो डर नहीं लगा किन्तु आकाश में यह बेचारे भय के मारे अधमरे हुए जा रहे थे। युद्ध देखकर यह लोग डर के मारे काँप रहे थे। और केवल काँप ही नहीं रहे थे, अपितु परस्पर वार्तालाप करते हुए कह रहे थे कि यह कितना बड़ा अधर्म हो रहा है। क्योंकि युद्ध तो बराबरी का होना चाहिए पर यहाँ तो एक ओर अकेले राम हैं, तथा दूसरी ओर चौदह हजार राक्षस, यह तो बड़ा अन्यायपूर्ण युद्ध हो रहा है।

सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवध धनी।।३।१९।२७

इनकी व्याकुलता को देखकर गोस्वामीजी मानो इन देवताओं की दुर्बलता पर व्यंग्य करते हैं। उनका तात्पर्य है कि देवता लोग अगर इसे अन्याय समझ रहे थे तब चाहते तो चौदह हजार देवता श्रीराम की ओर से खड़े हो जाते और तब यह युद्ध बराबरी का हो जाता। पर देवताओं का अभिप्राय यह था कि भाई ! लड़ना-भिड़ना अपना काम नहीं है। हम अच्छाई की विजय तो चाहते हैं पर उसके लिए कष्ट उठाने का साहस हममें नहीं है। हम यह तो चाहते हैं कि खर-दूषण का वध श्रीराम के द्वारा हो पर उसमें सक्रिय सहयोग देना हमारे वश की बात नहीं। और अपनी इसी मनोवृत्ति के कारण भगवान के द्वारा रावण के विनाश का आश्वासन प्राप्त होते ही यह लोग बड़ी व्यग्रता से जब स्वर्ग के भोगों की ओर जाते हुए दिखाई दिए तो ब्रह्माजी ने इन देवताओं से कहा कि भगवान तो अवतार लेंगे ही पर आप लोगों को क्या करना है जरा यह भी तो सुन लीजिए। और तब पितामह ब्रह्मा ने कहा कि अगर भगवान साकेत से उतर कर मृत्युलोक में जा रहे हैं तो आप लोग भी स्वर्ग से उतर कर मृत्युलोक में जाइए। यदि ईश्वर अपने दिव्य रूप को छोड़कर मानव रूप ग्रहण कर रहा है तो आप लोग भी देव शरीर को छोड़ कर वानर शरीर ग्रहण कीजिए। यह मानो देवताओं के क्रमिक विकास की पद्धति है। पहले उनके अन्तःकरण में रावण को मिटाने की इच्छा तो थी किन्तु उसके साथ-साथ निष्क्रियता भी थी। पर विवेक के देवता ब्रह्मा उनको प्रेरित करते हैं कि "भगवान ही सब कुछ कर देंगे" ऐसा विश्वास होना तो बहुत बढ़िया बात है, लेकिन भगवान के प्रति विश्वास आपके जीवन को पूरी तरह से निष्क्रिय बना दे यह उचित नहीं है। इसलिए आप लोग अपने कर्तव्य का पालन भी तो कीजिए, और आपका कर्तव्य यही है कि आप लोग स्वर्ग के भोगों को त्याग कर वानर रूप धारण करके मृत्युलोक में जाकर भगवान की सेवा का व्रत ग्रहण कीजिए, तथा प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा कीजिए। और जब श्रीराम लंका पर आक्रमण करें तब आप लोग भी उस अभियान में सम्मिलित होकर लंका विजय में भागीदार बनें। पितामह ब्रह्मा के उपदेश का परिणाम यह हुआ कि जो देवता उतावले होकर स्वर्ग की ओर बढ़ रहे थे, उन लोगों ने विवेक के देवता के इस आदेश को स्वीकार करके मृत्युलोक में आकर वानर रूप ग्रहण कर लिया।

आगे चलकर यह संकेत आता है कि जब समुद्र पर सेतु का निर्माण हो गया तो प्रभु को समाचार मिला कि सेतु तो बाँध दिया गया पर सेना बहुत विशाल है। उसकी तुलना में सेतु अत्यधिक छोटा है, पूरी सेना पार होने में बड़ा समय लगेगा। तब भगवान श्री राघवेन्द्र ने मुस्कुराकर

श्री जाम्बवन्तजी से कहा एक पुल तो आपलोगों ने तैयार किया, किन्तु अब दूसरे सेतु का निर्माण मैं किए दे रहा हूँ। और तब प्रभु वानरों के द्वारा बनाए गए उस सेतु पर जाकर खड़े हो गए तथा वहाँ से समुद्र की तरंगों को देखने लगे। और ज्योंही प्रभु उस पुल पर खड़े हुए त्योंही वहाँ एक अद्‌भुत दृश्य यह उपस्थित हो गया कि :—

देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा । प्रगट भए सब जलचर बृंदा ।। ६।३।४

तिन्ह कीं ओट न देखिअ बारी । मगन भए हरि रूप निहारी ।। ६।३।८

गोस्वामीजी ने कहा कि समुद्र के सारे जलचर ऊपर आ गए, और वे भगवान के सौन्दर्य को अपलक दृष्टि से निहारने लगे। श्रीराम के सौन्दर्य को देखकर उन्हें अपने शरीर की सुध-बुध भी जाती रही। उसका परिणाम यह हुआ कि समुद्र में कहीं जल दिखाई ही नहीं दे रहा है। इधर पत्थरों का पुल है तो उधर जलचरों के द्वारा एक नए सेतु का निर्माण हो चुका है। एक सेतु के निर्माण में यदि नाम की प्रधानता थी तो दूसरे में रूप की। वानरों के द्वारा जो पुल बनाया गया उसमें "राम" नाम की प्रधानता थी। क्योंकि सेतु बनाते समय पत्थरों को जोड़ने के लिए "रा" और "म" शब्दों का आश्रय लिया गया था। तथा जलचरों के द्वारा निर्मित सेतु में रूप की प्रधानता थी। और जब दूसरे सेतु का निर्माण हो गया तब प्रभु ने कहा कि अब जिसको पत्थरों के पुल से पार जाना हो वह उससे पार हो जाए, और जो जलचरों के पुल से पार जाना चाहता है वह इनके ऊपर से जा सकता है। और जो आकाश मार्ग से जाना चाहे वह उड़कर चला जाए। गोस्वामीजी ने संकेत किया कि :—

सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं ।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढि चढि पारहि जाहिं ।। ६।४

इस प्रकार जब समुद्र को पार कर लिया तब जाम्बवन्तजी से नहीं रहा गया, उन्होंने भगवान राम को बड़ा मीठा उलाहना देते हुए कहा महाराज ! जब आप इतना सुदृढ़ पुल इतनी सरलता से बना सकते थे तो फिर हम लोगों से पत्थर और पहाड़ ढुलवाने की क्या आवश्यकता थी ? आप पहले ही सेतु का निर्माण कर देते तथा सेना उस पुल से पार हो जाती। तो प्रभु ने कहा जाम्बवन्तजी ! आपने यह तो देखा कि मैंने पुल बना दिया, लेकिन वह मैंने कैसे बनाया इसकी ओर आपका ध्यान नहीं गया। भगवान श्री राघवेन्द्र ने कहा कि आप लोगों ने यदि सेतु का निर्माण न किया होता तो कहाँ खड़ा होकर मैं यह नया पुल बनाता ? प्रभु का अभिप्राय था कि जब साधक अपनी साधना तथा पुरुषार्थ का पुल बनाता है तो मैं उसके ऊपर कृपा का पुल बना देता हूँ। इसका तात्पर्य है कि जब एक ओर

साधना तथा पुरुषार्थ हो और दूसरी ओर भगवान की कृपा हो तब इन दोनों के समन्वय से ही साधक देहाभिमाव के समुद्र को पार कर सकता है। पितामह ब्रह्मा ने यह संकेत करते हुए प्रारम्भ में ही देवताओं से कहा कि :—

बानर तनु धरि धरि महि हरि पद सेवहु जाइ ।। १।१८७

गोस्वामीजी कहते हैं कि ब्रह्मा का आदेश मानकर स्वर्ग के राजा इन्द्र बालि के रूप में जन्म लेते हैं। प्रकाश के पुंज साक्षात भगवान सूर्य ही सुग्रीव के रूप में अवतार ग्रहण करते हैं, तथा श्री हनुमानजी के विषय में तो आप लोग जानते ही हैं कि वे साक्षात् भगवान शंकर के ही अवतार हैं। गोस्वामीजी स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि :—

जेहि सनेह रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान ।
रुद्र देह तजि नेह बस बानर भे हनुमान ।।

इसका तात्पर्य है कि सूर्य के अंश से जन्म लेने के कारण सुग्रीव ज्ञान के प्रतीक हैं। तथा इन्द्रांश से उत्पन्न होने के नाते बालि पुण्य का प्रतीक है, क्योंकि असाधारण पुण्य के द्वारा ही इन्द्र पद प्राप्त होता है। और श्री हनुमानजी शंकरावतार होने के नाते मूर्तिमान विश्वास हैं "भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ"। जाम्बवन्त ब्रह्मा के अंशावतार होने के कारण विवेक के प्रतीक हैं। इसी प्रकार अन्य वानर भी विभिन्न सद्गुणों के प्रतीक हैं। इनमें से अन्य पात्र तो भगवान राम के साथ मिलकर लंका पर आक्रमण करते हैं, तथा राक्षसों के वध में सहयोगी बनकर रामराज्य की स्थापना में समर्थ होते हैं, लेकिन एकमात्र बालि ही ऐसा पात्र है जो भगवान श्री राघवेन्द्र के साथ लंका में प्रवेश नहीं करता। बलिक उल्टी बात यह है कि जिन श्री राघवेन्द्र ने राक्षसों के वध के उद्देश्य से अवतार लिया था, उन्होंने रावण का वध तो बाद में किया किन्तु बालि के ऊपर बाण का प्रहार करके उसका वध वे पहले ही कर देते हैं। इसका तात्पर्य क्या है? और मैं पुनः आपको याद दिला दूँ कि इसका सीधा सा उत्तर वही है जो शबरी ने भगवान राम को दिया। उन्होंने कहा महाराज! बालि तो सीताजी की प्राप्ति नहीं करा सकता परन्तु सुग्रीव उन्हें अवश्य मिला देगा। इसका अर्थ है कि जीवन में शान्ति और भक्ति पुण्य के द्वारा मिल सकती है कि नहीं? जो लोग निरन्तर दान करते हैं, सत्कर्म करते हैं क्या वे लोग जीवन में शान्ति अथवा भक्ति को प्राप्त कर लेते हैं? और इस प्रश्न का उत्तर यही है कि अगर हमारे जीवन में बालि जैसा पुण्य होगा तो कितना भी उत्कृष्ट सत्कर्म क्यों न हो किन्तु वह हमें न तो शान्ति ही दिला सकता है और न ही भक्ति की प्राप्ति करा सकता है। बालि में वही कमी

है जो बहुधा संसार के अनेक पुण्यात्माओं में दिखाई देती है। इसीलिए समाज में ऐसे अनेक व्यक्ति दिखाई देते हैं जो पुण्य के द्वारा जीवन में सफलता प्राप्त करते हुए भी शान्ति तथा भक्ति की प्राप्ति में सफल नहीं होते हैं। केवल पुण्य के द्वारा इनकी प्राप्ति सम्भव क्यों नहीं है ? आइए इस पर भी थोड़ा विचार करें।

रामचरितमानस तथा अन्य पुराणों में भी आप यह कथा पढ़ेंगे कि भगवान श्री राम के अवतार से पहले ही बालि ने रावण को हरा दिया। तो आप यह कह सकते हैं कि ईश्वर का आश्रय लेने के पूर्व ही अगर पुण्य ने पाप को पराजित कर दिया तब तो उसके पुरुषार्थ और बल की प्रशंसा की जानी चाहिए। तथा गोस्वामीजी तो रामचरितमानस में बार बार यह संकेत करते हैं कि बालि ही एक ऐसा योद्धा था जिसने अपने जीवन में कभी भी किसी की चुनौती को अस्वीकार नहीं किया। यदि रावण ने भी चुनौती देने की चेष्टा की तो वह उसे भी पराजित करता है। इस प्रकार बालि में अप्रतिम शौर्य तथा साहस के अनेक गुण विद्यमान थे। किन्तु इतना होते हुए भी वह श्री सीताजी की प्राप्ति में सहायक क्यों नहीं हो सका, इसका बड़ा ही गम्भीर संकेत सूत्र गोस्वामीजी किष्किन्धा काण्ड में देते हैं। इस किष्किन्धा काण्ड में एक बड़ी विलक्षण सी बात यह है कि सारे रामचरितमानस में इतनी कन्दराओं का वर्णन कहीं नहीं मिलेगा जितनी गुफाओं का वर्णन किष्किन्धा काण्ड में है। इस काण्ड में वर्णित गुफ़ाओं की संख्या चार है। इनमें एक गुफा तो वह थी जिसे देवताओं ने यह समझकर सजाया था कि श्री राम इसमें निवास करेंगे। तथा प्रभु और श्री लक्ष्मणजी ने उसमें निवास भी किया।

प्रथमहिं देवन्ह गिरि गुहा राखेउ रुचिर बनाइ।
राम कृपानिधि कछु दिन बास करहिंगे आइ।। ४।१२

दूसरी गुफा वह है जिसमें हनुमानजी बन्दरों को ले जाकर उन्हें स्वयंप्रभा का दर्शन कराते हैं।

आगें कै हनुमंतहि लीन्हा। पैठें बिबर बिलंबु न कीन्हा।। ४।२३।८

तीसरी गुफा में सम्पाती का निवास है "गिरि कंदरा सुनी सम्पाती" इस प्रकार यह तीन कन्दराएँ हैं। इन तीन गुफाओं का तात्पर्य क्या है इसपर तो हम विस्तार से विचार करेंगे पर आइए पहले चौथी गुफा के स्वरूप पर विचार करें।

चौथी गुफा वह है जिसमें बालि पैठता हुआ दिखाई देता है। इस गुफा में प्रविष्ट होना भी बालि की मनोवृत्ति के सर्वथा अनुरूप है। आपके सामने एक दिन कहा गया था कि बालि चुनौती से कभी नहीं घबड़ाता

है, तथा उसका सबसे बड़ा प्रमाण है मायावी। मायावी ने सोचा कि रात्रि के अन्धकार में यदि मैं आक्रमण करूँ तो वालि भय के मारे मेरे सामने नहीं आएगा। और तब मैं लौटकर यह घोषणा कर दूँगा कि रावण को हराने वाले बालि को भी मैंने परास्त कर दिया। यह विचार कर वह किष्किन्धा में अर्धरात्रि के समय आकर वालि को चुनौती देता है। पर वालि में तो अदम्य साहस है, वह शत्रु की चुनौती को अस्वीकार करना तो जानता ही नहीं है। सुग्रीव ने आत्मकथा सुनाते हुए प्रभु से कहा कि :—

मय सुत मायावी तेहि नाऊँ।
आवा सो प्रभु हमरें गाऊँ।।
अर्ध राति पुर द्वार पुकारा।
बाली रिपु बल सहै न पारा।। ४।५।३

लेकिन अर्ध रात्रि के समय भी वालि ने उस चुनौती को स्वीकार किया, और नगर से बाहर निकल कर जब उसने मायावी को ललकारा तो वह भय के मारे भाग खड़ा हुआ। मायावी के भाग जाने के पश्चात् यदि बालि चुपचाप लौट आता तो कोई बात नहीं थी पर वह तो मायावी के पीछे ही लग गया, और भागता हुआ मायावी जब पर्वत की एक कन्दरा में पैठ गया तब बालि ने यह निश्चय किया कि इस गुफा के भीतर मैं भी जाऊँगा।

गिरिबर गुहाँ पैठ सो जाई।
तब बाली मोहि कहा बुझाई।।
परिखेसु मोहि एक पखवारा।
नहिं आवौं तब जानेसु मारा।। ४।५।६

यही बालि के जीवन की सबसे बड़ी तथा अनर्थकारी भूल थी। यह केवल बालि के चरित्र की ही दुर्बलता नहीं है, अपितु कई बार तो धर्मात्मा पुण्यात्मा कहे जाने वाले उच्च चरित्र के व्यक्ति भी इसी गुफा में पैठने की भूल करते हुए दिखाई देते हैं। और यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें कि इन चारों गुफाओं का स्वरूप क्या है ? तो हमें ऐसा प्रतीत होगा कि यह चारों गुफाएँ मनुष्य के "अन्तःकरण चतुष्टय" की ही प्रतीक हैं। इनमें "चित्त" की गुफा में भगवान राम रहते हैं, "मन" की गुफा में स्वयंप्रभा का निवास है, तथा "बुद्धि" की गुफा में सम्पाती रहता है। किन्तु यह चौथी गुफा कौन सी है जिसमें बालि प्रविष्ट होता है ? इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति को मन, बुद्धि और चित्त की गुफा में अवश्य प्रविष्ट होना चाहिए। क्योंकि मन की कन्दरा में बन्दरों को स्वयंप्रभा के रूप में भगवत्कृपा कि प्राप्ति होती है। बुद्धि की गुफा में सम्पाती के रूप में विवेक

का साक्षात्कार होता है, तथा चित्त की गुफा में पैठने पर ईश्वर की प्राप्ति होती है। लेकिन जिस गुफा में कभी नहीं पैठना चाहिए वह अहंकार की गुफा है। इसका अभिप्राय यह है कि मन, बुद्धि तथा चित्त की गुफा में तो ईश्वर, विवेक तथा कृपा का साक्षात्कार करके व्यक्ति धन्यता का अनुभव करता है, किन्तु एक बार भी जो व्यक्ति अहंकार की गुफा में प्रविष्ट हो गया तो उसके जीवन की भी वही दशा होगी जो बालि की हुई। बालि का दुर्भाग्य यही था कि वह अहंकार की इस कन्दरा में पैठ जाता है। बालि को सीताजी की खोज के लिए उपयुक्त पात्र नहीं माना गया उसका एकमात्र तात्पर्य यही है कि उसने भगवान श्री राघवेन्द्र के अवतार लेने से पूर्व ही रावण को हरा दिया। और हराने के पीछे भी उसकी मनोवृत्ति क्या थी, श्रीराम के आने के पूर्व ही उसने रावण को क्यों हरा दिया? वस्तुतः बालि उतावला होकर सोचने लगा कि यदि मैं भगवान राम के साथ लंका पर आक्रमण करके रावण को परास्त करूँगा तब यश तो श्रीराम को प्राप्त होगा, मुझे नहीं। अहंकार की इसी वृत्ति के वश में होकर उसने यह निर्णय किया कि मैं संसार को दिखा देना चाहता हूँ कि व्यक्ति अपने सत्कर्म के द्वारा ही दुर्गुणों को जीत सकता है, उसे ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। आज भी कई लोग यह प्रश्न किया करते हैं कि मनुष्य का चरित्र यदि अच्छा है, व्यक्ति अगर सद्गुण सम्पन्न है तो फिर वह ईश्वर को माने अथवा न माने इसमें क्या अन्तर है? और यही भूल बालि भी अपने जीवन में दोहराता है।

रामचरितमानस तथा गीता, दोनों में संकेत सूत्र के रूप में यही कहा गया है कि मनुष्य के जीवन में सत्कर्म और पुण्य के साथ साथ ईश्वर का आश्रय अवश्य होना चाहिए। क्योंकि सत्कर्म के साथ ईश्वर का आश्रय प्राप्त होने पर मनुष्य को जो सफलता प्राप्त होगी उसे वह अपनी योग्यता का परिणाम न मानकर भगवान की कृपा का फल मानेगा। और ईश्वर का आश्रय न लेने पर व्यक्ति को जो सफलता मिलेगी उसे वह अपनी क्षमता तथा अपने पुरुषार्थ का फल मानकर अहंकारी बनेगा। इसका अभिप्राय है कि भाई! ईश्वर को इसलिए स्वीकार करना चाहिए कि सफलता के पश्चात् जो अहंकार आने वाला है उसे हम ईश्वर के चरणों में अर्पित कर सकें। यही संकेत आपको गीता में मिलेगा। वहाँ पर एक ओर तो आप यह पढ़ते हैं कि जब भगवान कृष्ण ने अर्जुन को अपने विराट रूप का साक्षात्कार कराया तो अर्जुन ने बड़े आश्चर्य से देखा कि भगवान के उदर में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि सब मरे हुए पड़े हैं। और दूसरी ओर भगवान कहते हैं अर्जुन! तुम इन सबसे लड़ो। तो अर्जुन ने कहा महाराज! अब लड़ने की

क्या आवश्यकता है ? यदि लड़ने की ही बात थी तो फिर आपने विराट रूप में इनको मरा हुआ क्यों दिखाया ? और तब भगवान ने कहा कि विराट रूप के उदर में इनको मृत देखकर तुम्हारे जीवन में अगर निष्क्रियता आ गई तो यह अवगुण माना जाएगा। और यदि मैं इनको मरा हुआ नहीं दिखाता तो इन महारथियों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद तुम्हारे मन में यह गर्व आ जाता कि इन योद्धाओं को मैंने मारा है। पर एक बार तुमने मेरे विराट रूप में देख लिया कि यह तो मेरे (स्वयं भगवान) द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं तो अब तुम्हारे जीवन में अहंकार नहीं आएगा। और तब भगवान श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि :—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव (यह सब मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं) लेकिन तुम्हारा कर्त्तव्य यही है कि :—

निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन (तुम तो केवल निमित्तमात्र बन जाओ)।

इसलिए जो लोग ईश्वर की उपेक्षा करके केवल सत्कर्म को ही महत्त्व देते हैं वे तो बालि के समान ही भूल दुहरा रहे हैं। बालि ने यह निर्णय कर लिया कि यदि हम अपने बल से ही रावण को जीत लें तो राम की क्या आवश्यकता है। किन्तु सचमुच बालि ने रावण को जीत लिया क्या ? क्योंकि रावण को जीत लेने का अर्थ है समाज से बुराई मिट जाए, अत्याचार समाप्त हो जाए। किन्तु बालि के द्वारा पराजित होने पर क्या रावण ने समाज पर अत्याचार करना बन्द कर दिया, क्या वह शरणागत होकर बालि की इच्छा के अनुकूल चलने लगा ? इसका अर्थ है कि यदि हमें पुण्य के द्वारा दुष्कर्म पर विजय प्राप्त हो गई तो हमारा जीवन बदल गया कि नहीं, हमारे अन्तर्जीवन में मोह की वृत्ति समाप्त हो गई कि नहीं ? और यदि कुछ भी समाप्त नहीं हुआ तब तो यही मानना पड़ेगा कि वस्तुतः हम रावण को परास्त नहीं कर सके। बालि के द्वारा रावण पर विजय भी कुछ इसी प्रकार की है। क्योंकि बालि के समक्ष पराजित होने पर भी उसने समाज पर अत्याचार तो बन्द किया नहीं। और यदि रावण के क्रिया-कलापों में कोई अन्तर पड़ा ही नहीं तो फिर बालि की विजय का महत्त्व क्या है ? तथा उस प्रसंग में एक अनोखी बात आप यह देखेंगे कि बालि के द्वारा परास्त होने पर भी रावण मन ही मन प्रसन्न था। उसकी प्रसन्नता का कारण यह है कि वह बालि से अकेले में लड़ा था। इसलिए उसको यह संतोष था कि मेरी हार को किसी ने देखा तो नहीं है। और बालि की मनोवृत्ति पर सबसे बड़ा व्यंग्य यह है कि हराने के पश्चात् भी उसे बगल में दबाकर बालि घमता रहा। गोस्वामीजी ने कहा भई ! संसार में यह तो देखा जाता है कि हारने वाला व्यक्ति जीतने वाले को ढोए, पर यहाँ तो उल्टा दृश्य दिखाई दे

रहा है। क्योंकि यहाँ तो विजयी व्यक्ति ही पराजित होने वाले को ढो रहा है। इसी प्रकार कई लोग जीवन में जीत करके हार इसीलिए जाते हैं क्योंकि वे विजय को ढोने में लगे रहते हैं। तथा ढोने का तात्पर्य यही है कि बालि की यह इच्छा नहीं है कि मुनियों और पृथ्वी पर रावण का अत्याचार समाप्त हो जाए, तथा समाज में धर्म की पुनः स्थापना हो। बल्कि रावण को बगल में दबाकर घूमने के पीछे भी उसकी अहं की वृत्ति ही विद्यमान थी। उसके मन में यही चिन्ता थी कि अगर मैं किसी से कहूँगा कि मैंने तो रावण को हरा दिया है, तो लोग मेरी बात पर विश्वास नहीं करेंगे। इसलिए बगल में प्रमाणपत्र (रावण) को दबाकर सारे संसार को दिखाता हुआ फिर रहा था। इसी प्रकार कई व्यक्ति अपने धर्मात्मापन का प्रमाणपत्र दिखाते फिरते हैं कि मैं कितना बड़ा धर्मात्मा हूँ। तथा सबसे आनन्ददायक तथ्य यह है कि बालि केवल बगल में दबाकर घूमता ही नहीं है, अपितु छः महीने तक रावण को खिलाने-पिलाने की चिन्ता भी बालि ही कर रहा है। इसका अभिप्राय है कि पुण्य, पाप को केवल ढो ही नहीं रहा है, अपितु अधर्म को जीवित रखने की चेष्टा भी धर्म ही कर रहा है। और इसका अर्थ यह है कि जो धर्म अहंकार के प्रदर्शन की वस्तु बन जाय, जिस धर्म का उद्देश्य यह हो कि समाज मुझे पाप के विजेता के रूप में जाने, तथा जो पुण्य अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए पाप को जीवित रखना चाहता है वह पुण्य वैदेही की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं हो सकता। और ठीक इसके विपरीत अगर आप सुग्रीव के चरित्र को देखें तो उनमें अनेक दुर्बलताएँ दिखलाई देती हैं। बालि में यदि बल की पराकाष्ठा है तो सुग्रीव के जीवन में निर्बलता ही निर्बलता है। पर इतना होते हुए भी दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि बालि अपने बल का दुरुपयोग करता है, और सुग्रीव ने अपनी निर्बलता का भी सदुपयोग किया, तथा भक्ति शास्त्र की मान्यता भी यही है। जब यह प्रश्न किया गया कि भगवान सबल को मिलेंगे अथवा निर्बल को? इसका उत्तर देते हुए उपनिषदों ने कहा कि "यह आत्मा बलहीन को प्राप्त नहीं होती"।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो

पर हमारे भक्तों का तो एक भिन्न ही स्वर है। भक्तों ने घोषणा करते हुए कहा कि "निर्बल के बल राम" भक्त कहते हैं कि केवल बलवान ही नहीं यदि निर्बल भी अपना बल श्री राम को बना ले तो वह भी धन्य हो सकता है। और यह समाज का भी सत्य है। दृष्टान्त के रूप में हम इसे यों कह सकते हैं कि कुश्ती लड़ने वाला व्यक्ति अपने बल के द्वारा समाज में सम्मान पाता है, लोग उसकी प्रशंसा करते हैं, लेकिन एक नन्हा बालक

जो माँ का प्यार पाता है, घर वालों का दुलार प्राप्त करता है वह अपनी असमर्थता से पाता है न कि सामर्थ्य से। किसी विद्वान से पूछा गया कि महाराज ! पहलवान तो अपने बल के द्वारा पूजा जा रहा है पर इस बालक के पास कौन सा बल है जिसके कारण इसको इतना अधिक स्नेह प्राप्त हो रहा है। क्योंकि यह बालक तो न उठ सकता है, न चल सकता है और न ही अपने लिए भोजन की व्यवस्था कर सकता है ? तब उस विद्वान व्यक्ति ने उत्तर देते हुए कहा कि भई ! उसके पास भी एक बल है। इसका संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि :—

बालानाम् रोदनम् बलम्

बालक के आँसू ही उसका बल है। यह अपने आँसुओं के द्वारा ही माँ को आने के लिए बाध्य कर देता है। तो यहाँ पर सुग्रीव में भगवान राम को कौन सी बात सबसे अच्छी लगी जिसे देखकर प्रभु ने उन्हें स्वीकार किया। और यहाँ पर गोस्वामीजी बालि तथा सुग्रीव की तुलना भी कर देते हैं। जिस समय सुग्रीव ने किष्किन्धा के समीप गर्जना की और उस चुनौती को स्वीकार करके बालि लड़ने के लिए चलने लगा तब तारा ने उसके चरण पकड़ कर कहा कि जानते हो सुग्रीव आज गर्जना करता हुआ क्यों आया है ? उसने कहा कि यह सुग्रीव का बल तो है नहीं लेकिन इस गर्जना के पीछे जिसका बल है उसके ऊपर आपकी दृष्टि अभी गई कि नहीं। और तब तारा ने बालि को श्री राम के प्रभाव का स्मरण दिलाते हुए कहा कि :—

सुनुपति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा ।
ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा ।।
कोसलेस सुत लछिमन रामा ।
कालहु जीति सकहिं संग्रामा ।। ४।६।२९

तारा को लगता है श्री राम इतने शक्तिशाली हैं कि काल भी उनके सामने आने से घबड़ाता है। और वह कहती है कि उन्हीं राम का बल प्राप्त करके यदि सुग्रीव गर्जना कर रहा है तो आप युद्ध करने मत जाइए। पर तारा की बात को सुनकर बालि कहता है तारा ! तुमने तो मुझे बताया कि श्री राम तथा लक्ष्मण बड़े बलवान हैं। किन्तु मैं तुम्हें यह बतलाना चाहता हूँ कि केवल बलवान ही नहीं अपितु वे तो साक्षात् भगवान हैं। बालि के इस वाक्य को सुनकर तारा ने कहा कि स्वामी ! मेरा अज्ञान तो आज आपने दूर कर दिया, क्योंकि मैं तो उन्हें एक शक्तिशाली मनुष्य मानकर ही आपको रोक रही थी, पर जब आप उनको साक्षात् ईश्वर ही समझते हैं तब तो आपको स्वतः ही युद्ध करने के लिए नहीं जाना चाहिए। किन्तु बालि ने

कहा तारा ! मैं लड़ने अवश्य जाऊँगा, क्योंकि श्री राम तो समदर्शी हैं, वे मुझ में और सुग्रीव में रञ्चमात्र भी भेद नहीं करेंगे।

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ । ४।७

लेकिन आगे चलकर वह कहता है कि अगर मैं तुम्हारी इस बात को मान लूँ कि वे सुग्रीव का पक्ष लेकर मुझे मार डालेंगे, तो भी चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि :—

जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ ।। ४।७

यदि वे मेरा वध ही कर देंगे तो मैं सनाथ हो जाऊँगा। यदि वैसे देखें तो बालि की यह दोनों बातें बड़ी ऊँची हैं। क्योंकि हमारे शास्त्र भी तो यही कहते हैं कि **"ईश्वर सम है"**।

जद्यपि सम नहिं राग न दोषू । २।२१८।३

इसका तात्पर्य है कि यह बात उसने ज्ञान की कह दी। "और यदि भगवान मार ही देंगे तो मैं सनाथ हो जाऊँगा" यह वाक्य शुद्ध भक्ति परक है। और जब इतनी बढ़िया बात बालि ने कही तब तो गोस्वामीजी को यह सोचकर प्रसन्न होना चाहिए कि भले ही सुग्रीव से लड़ने जा रहा है, पर इसमें तो ज्ञान और भक्ति दोनों ही विद्यमान हैं। लेकिन उस समय उन्होंने बालि को जो उपाधि दी उसीसे समझ में आ गया कि वे बालि को क्या मानते हैं। किसी जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि महाराज ! सुग्रीव से युद्ध करने के लिए ज्ञानी बालि जा रहा है कि भक्त बालि जा रहा है ? उन्होंने कहा कि भई :—

अस कहि चला महा अभिमानी । ४।७।१

उनका तात्पर्य है कि यह न तो ज्ञानी है और न ही भक्त, अपितु यह तो कोरा अभिमानी है। और यही बालि के चरित्र का सबसे दुर्बल पक्ष है। इसका अर्थ है कि यद्यपि बालि कहता तो है कि **"भगवान समदर्शी हैं"** किन्तु यदि वह प्रभु के व्यवहार पर विचार करता तो समझ जाता कि लगता है भगवान अब समदर्शी नहीं रहे क्योंकि समदर्शी होते तो मित्रता करने के लिए मेरे पास भी क्यों नहीं आते, उन्हें तो दोनों से मित्रता करनी चाहिए थी। यदि वह ऐसा विचार करता तो उसका ज्ञान सार्थक हो जाता। वर्णन आता है कि जब हनुमानजी का भगवान श्री राघवेन्द्र से मिलन हुआ तब प्रभु ने कहा कि हनुमान जानते हो तुम मुझे कितने प्रिय हो ? हनुमानजी ने यह वाक्य सुनकर जिज्ञासा भरी दृष्टि से प्रभु की ओर देखा, तो भगवान श्री राघवेन्द्र ने तुरन्त कहा कि :—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना ।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।। ४।२।७

तुम तो मुझे लक्ष्मण से दूने प्यारे हो। हनुमान जी तो आश्चर्य से प्रभु का मुख देखने लगे, और प्रभु से पूछा कि महाराज! आपके यहाँ भी दुगुना—चौगुना होने लगा क्या? क्योंकि मैंने तो सुना था कि ईश्वर सम है। हनुमान जी का तात्पर्य था कि प्रभु! अगर आप यह कह देते कि तुम लक्ष्मण के समान प्रिय हो तब तो समता रहती, किन्तु यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि तुम लक्ष्मण से दूने प्यारे हो? तब प्रभु ने कहा हनुमान! भाषण में विद्वान लोग भले ही यह प्रचार करें कि मैं समदर्शी हूँ पर मैं बिल्कुल समदर्शी नहीं हूँ। अपितु मैं तो समाज को यह बताना चाहता हूँ कि :—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। ४।२।८

लेकिन मुझे तो :—

सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥ ४।२।८

प्रभु ने कहा कि मुझे तो सेवक प्रिय है, और सेवकों में भी जो मेरा अनन्य भक्त है वह मुझे सर्वाधिक प्रिय है, और मैं तुमको अपना अनन्य भक्त मानता हूँ। भगवान श्रीराम का अभिप्राय है कि "मैं वह पुराना ईश्वर नहीं हूँ, अब मैं बदल चुका हूँ" तथा जो भी मुझसे व्यवहार करे वह यह समझ ले कि ईश्वर उसी का पक्ष लेगा जो उसके सेवक को सेवा करेगा। और जो सेवक का विरोध करने वाला है ईश्वर उसका विरोध करेगा। क्योंकि सेवक के सुख को मैं अपना सुख मानता हूँ, तथा सेवक के शत्रु की ओर इंगित करते हुए रामचरितमानस में कहा गया है कि :—

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा।
रामहि सेवकु परम पिआरा॥
मानत सुखु सेवक सेवकाई।
सेवक बैर बैरु अधिकाई॥ २।२१८।२

ईश्वर के स्वभाव की इस विशेषता पर यदि बालि ने विचार किया होता कि **"सेवक बैर बैरु अधिकाई"** तो वह सुग्रीव से लड़ने की भूल न करता। किन्तु जब तारा ने उसे समझाया तो बालि ने हँसकर कहा कि सुग्रीव तो तिनके के समान तुच्छ है, मैं अभी उसको तोड़कर फेंकता हूँ।

अस कहि चला महा अभिमानी।
तृन समान सुग्रीवहि जानी॥ ४।७।१

बालि यही समझता है कि सुग्रीव तो तिनके के समान है, तथा इन्द्र का पुत्र होने के नाते मैं वज्र के समान हूँ। किन्तु बालि के मन में श्री राम के प्रति यदि सच्ची आस्था होती, श्री राम के प्रति भक्ति होती तो सुग्रीव की गर्जना सुनकर वह सोचता कि अरे! तिनके के समान तुच्छ सुग्रीव आज

कैसे गरज रहा है। और तब उसको इस बात का ध्यान आ जाता कि सुग्रीव तो तिनका है पर जिस ईश्वर का आश्रय इसने लिया है, उसका चमत्कार तो यही है कि :— **तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। ६।३४।८**

यदि बालि यह समझ लेता कि जो ईश्वर तिनके को वज्र तथा वज्र को तिनका बना देता है वही ईश्वर आज सुग्रीव जैसे तिनके को वज्र बनाकर चमका रहा है तो वह श्री राम की सामर्थ्य को स्वीकार करके भक्त बन जाता। पर वह तो अब भी सुग्रीव को तृण ही समझ रहा है। बालि की इसी मनोवृत्ति को देखकर गोस्वामी जी ने कहा कि वाणी से यह भले ही ज्ञानी तथा भक्त जान पड़ता हो, पर हृदय से तो पूरा अभिमानी ही है। उनका अभिप्राय है कि जीवन में पुण्य तो होना चाहिए किन्तु पुण्याभिमान घातक है। क्योंकि पुण्य के साथ अभिमान होने पर व्यक्ति भक्ति देवी को मिलाने में सहयोगी नहीं बन सकता। और बालि में यही पुण्याभिमान हमें दिखाई देता है। इसी पुण्याभिमान को विनष्ट करने के लिए भगवान राम ने बाण चलाकर जब बालि को अधमरा बना दिया, जब उसका अहंकार मिट गया तब प्रभु ने कहा बालि ! अब तुम जीवित रहो।

अचल करौं तनु राखहु प्राना। ४।९।२

प्रभु का तात्पर्य था कि भाई ! मैं समाज से पुण्य को मिटाने नहीं आया हूँ, मैं तो पुण्यामिमान मिटाने आया हूं, और जब तुम्हारा अभिमान विनष्ट हो गया तो तुम हमारे काम के हो गए। तब बालि ने भगवान के चरणों को पकड़ कर कहा कि महाराज ! यह आपकी कृपा है कि आपने मेरे अभिमान को मिटा कर मुझे अपनी शरण में ले लिया। मैं आपकी सेवा करूँगा पर इस शरीर के द्वारा नहीं। और तब बालि ने अंगद को बुलाकर भगवान श्री राम के कर-कमलों में अंगद का हाथ दे दिया और कहा प्रभु ! यह मेरा बेटा है, पुत्र भी तो पिता का ही प्रतिरूप होता है, इसलिए सीताजी की खोज मैं अंगद के रूप में करूँगा, इस रूप में नहीं। प्रभु ने पूछ दिया कि तुममें और इसमें कोई अन्तर है ? तब बालि ने कहा कि महाराज ! रूप और बल में तो अंगद मेरे ही समान है पर यह अन्तर अवश्य है कि :—

यह तनय मम सम बिनय बल। ४।९।१२

प्रभु ! मुझमें बल तो था पर विनय बिल्कुल नहीं थी, और इसमें विनय पहले तथा बल बाद में है। इसलिए आपके काम का तो यही है, मैं नहीं। इसका तात्पर्य है कि यदि बालि जैसा पुण्य हमारे जीवन में है तो हमें भक्ति देवी नहीं मिलेंगी। किन्तु सुग्रीव जैसा निर्बल व्यक्ति श्री सीताजी को कैसे प्राप्त कर लेता है, इसकी चर्चा हम कल करेंगे, आज इतना ही।

बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय।

श्री रामः शरणं मम

पंचम प्रवचन

जनकसुता कइ सुधि भामिनी ।
जानहि कहु करिवर गामिनी ।।
पंपा सरहि जाहु रघुराई ।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ।।
सो सब कहिहि देव रघुबीरा ।
जानतहूँ पूछहु मतिधीरा ।।
बार-बार प्रभु पद सिरु नाई ।
प्रेम सहित सब कथा सुनाई ।।
कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदयँ पद पंकज धरे ।
तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ।।
नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू ।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू ।।
जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्ह असि नारि ।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि ।। ३।३६

आइए, अब कुछ समय के लिए एकाग्र और शान्त चित्त से जगज्जननी श्री सीता के अन्वेषण का जो संदेश रामचरितमानस में दिया गया है, उसका रहस्य हृदयङ्गम करने की चेष्टा करें ।

भगवान श्री राघवेन्द्र शबरी जी के उपदेश को अक्षरशः स्वीकार करके, सुग्रीव से मित्रता करने के लिए ऋष्यमूक पर्वत की ओर प्रस्थान करते हैं। वहीं पर श्री हनुमान जी की मध्यस्थता में भगवान राम तथा सुग्रीव की मित्रता सम्पन्न होती है। प्रथम दृष्टि में प्रभु और सुग्रीव की मित्रता बड़ी

अटपटी सी प्रतीत होती है। क्योंकि एक ओर तो प्रभु ने विदेहनन्दिनी की खोज का पात्र एक ऐसे व्यक्ति को चुना जिसके चरित्र में भय तथा दुर्बलता की वृत्तियाँ विद्यमान हैं। और दूसरी ओर भगवान राम बालि जैसे योद्धा की सहायता केवल अस्वीकार ही नहीं करते, बल्कि वे उसका वध भी कर देते हैं। पर इसका मूल उद्देश्य वही है जिसकी चर्चा कल से चल रही है, और आज हम आपके सामने यह पक्ष रखना चाहेंगे कि भक्ति की प्राप्ति के लिए व्यक्ति में किन-किन विशेषताओं का होना आवश्यक है। वैसे कल आपके समक्ष यह संकेत किया जा चुका है कि सूर्य के अंश से जन्म लेने के कारण सुग्रीव ज्ञान के प्रतीक माने गए हैं तथा इन्द्रांश से उत्पन्न होने के नाते बालि पुण्य का प्रतीक है। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भक्ति की प्राप्ति के लिए, श्री सीताजी की खोज के लिए मनुष्य का पुण्यात्मा होना आवश्यक है कि ज्ञानी होना ? कल के प्रवचन में यह सकेत किया गया था कि बालि के चरित्र में पुण्य उत्कृष्ट रूप से विद्यमान होने पर भी उसके जीवन में अहंकार और प्रदर्शन की ऐसी प्रवृत्ति आ गई जिसके कारण वह श्री सीताजी की उपलब्धि में सक्षम नहीं हो सका। इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि पुण्यात्मा व्यक्ति अहंकारी अवश्य होता है, अथवा पुण्य के द्वारा ईश्वर की उपलब्धि नहीं होती। इसीलिए हमारे ग्रन्थों में इसका एक द्वितीय पक्ष भी मिलेगा।

रामचरितमानस में जहाँ सूर्य का पुत्र भगवान को पाने में समर्थ है वहीं द्वापर युग में सूर्य-पुत्र के रूप में जन्म लेने वाला कर्ण भगवान को प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ। तथा रामचरितमानस से ठीक उल्टा दूसरा दृष्टान्त यह है कि यद्यपि अर्जुन इन्द्र का पुत्र है, पर वह ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करने में सफल हो गया। रामायण काल में यदि भगवान ने सूर्य के पुत्र (सुग्रीव) की रक्षा करते हुए इन्द्र के पुत्र (बालि) पर स्वयं प्रहार किया तो महाभारत काल में वे इन्द्र के पुत्र (अर्जुन) को प्रेरित करते हैं कि वह सूर्य के पुत्र (कर्ण) का वध करे।

महाभारत के युद्ध में यह प्रसङ्ग आता है कि जिस समय कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी में धँस गया तथा कर्ण रथ से नीचे उतर कर जब उस पहिए को निकालने की चेष्टा करने लगा, तब भगवान कृष्ण ने अर्जुन को आदेश दिया कि कर्ण को मारने का उचित अवसर यही है, तुम इसी स्थिति में इसका वध कर दो। भगवान का आदेश सुनकर प्रारम्भ में तो अर्जुन को बड़ी हिचकिचाहट सी होती है, क्योंकि वह सोचता है कि जब कोई योद्धा निरस्त होकर किसी अन्य कार्य में लगा हो, उस समय उस पर प्रहार करना धर्मयुद्ध के सर्वथा प्रतिकूल है। और अर्जुन की हिचकिचाहट को देखकर

भगवान उसे समझाते हैं कि तुम्हें कर्ण पर प्रहार करने में रञ्चमात्र भी संकोच नहीं करना चाहिए। क्योंकि शस्त्र के रहते हुए रथ पर आरूढ़ कर्ण पर विजय प्राप्त करना तुम्हारे लिए सरल नहीं है। इसलिए मेरी आज्ञा है कि तुम तत्काल कर्ण के ऊपर प्रहार करो। तथा भगवान के आदेश को स्वीकार करके अर्जुन, कर्ण का वध कर देते हैं। अब इस कथा के तत्त्व पर आप विचार करें।

इस प्रसङ्ग में, एक अनोखी सी बात यह है कि त्रेता तथा द्वापर दोनों युगों के प्रसङ्गों को अगर आप केवल स्थूल दृष्टि से देखें तो ऐसा लगता है कि न तो बालि ही न्यायपूर्वक मारा गया न ही कर्ण। कर्ण तब मारा गया जब वह रथ से उतर कर पहिया निकाल रहा था, तथा बालि पर तो भगवान श्री राघवेन्द्र ने ही वृक्ष की ओट में खड़े होकर प्रहार किया। यह दोनों प्रसङ्ग इतने गम्भीर हैं कि इनको अत्यन्त स्थूल दृष्टि से देखने वाले तो इनके अन्तरङ्ग रहस्य को समझ ही नहीं सकते। और इन प्रसङ्गों की व्याख्या भी व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। कुछ लोग तो इसके द्वारा यह सन्तोष कर लेते हैं कि युद्ध में न्याय-अन्याय कुछ नहीं देखना चाहिए, केवल शत्रु को हराना ही हमारा लक्ष्य है, वह चाहे जैसे पूरा हो। वे सोचते हैं कि जब रामायण तथा महाभारत काल में भी लोग शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए न्याय-अन्याय पर विचार नहीं करते हैं तो फिर हम लोग यदि अपने विरोधी को पराजित करने में अन्याय का आश्रय लेते हैं तो इसमें अनौचित्य क्या है? तथा कुछ व्यक्ति इसको एक भिन्न रूप में देखते हैं। उनको यह कार्य अनौचित्यपूर्ण प्रतीत होता है, और वे भगवान कृष्ण तथा भगवान राम के इस कार्य की आलोचना करते हैं। किन्तु यह दोनों प्रसङ्ग इतने मनोवैज्ञानिक हैं, तथा इनमें धर्म का इतना सूक्ष्म तत्त्व छिपा हुआ है, कि एक बार उस तत्त्व को सही-सही हृदयङ्गम कर लेने के पश्चात् व्यक्ति के अन्तःकरण में किसी प्रकार का भ्रम नहीं रह जाता।

सबसे पहले हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि दोनों अवतारों में भगवान तो एक ही हैं, पर उनकी पक्षधरता क्यों बदल जाती है? ईश्वर एक अवतार में ज्ञान का पक्ष लेता है तो दूसरे में पुण्य का। इसका कारण क्या है? और इतिहास में एक अनोखी समानता यह है कि एक ओर यदि बालि और सुग्रीव सगे भाई हैं तो दूसरी ओर कर्ण तथा अर्जुन भी सगे भाई हैं। किन्तु सगे भाई होते हुए भी उनमें आपस में विरोध होता है, और यही सत्य समाज का भी है। हमारे आपके जीवन में भी ज्ञान और पुण्य सगे भाई के रूप में दिखाई देते हैं। दोनों का जन्म एक ही माता के द्वारा हो रहा है। क्योंकि जब व्यक्ति में सद्‌बुद्धि होगी तभी उसमें ज्ञान उत्पन्न

होगा, तथा पुण्य की ओर भी झुकाव तभी होगा, जब व्यक्ति में सद्बुद्धि हो। इसका अभिप्राय है कि पुण्य तथा ज्ञान दोनों का जन्म सद्बुद्धि के द्वारा ही हुआ करता है। लेकिन देखा यह जाता है कि एक ही बुद्धि के द्वारा जन्म होने पर भी बहुधा इनमें विरोध उत्पन्न हो जाता है। और यह विरोध एक ही दुर्गुण के कारण होता है, जिसकी सम्भावना दोनों में समान रूप से विद्यमान है, तथा वह दुर्गुण है अहंकार का। यह दुर्गुण ज्ञान में भी आ सकता है और पुण्य में भी। समाज में बहुधा यह दिखाई देता है कि कुछ लोग यदि ज्ञान पाकर अभिमानी हो जाते हैं तो कुछ पुण्य तथा धर्म का ही अभिमान पाल लेते हैं। और जब ज्ञान तथा पुण्य के बीच में अहंकार आ जाएगा तो यह दोनों परस्पर टकराने लगेंगे। और यदि यह प्रश्न किया जाय कि ईश्वर को ज्ञान प्रिय है अथवा पुण्य ? तो इसका उत्तर रामचरितमानस तथा महाभारत दोनों में ही दिया गया है। रामायण काल में ज्ञान के प्रतीक सुग्रीव में अभिमान का सर्वथा अभाव है, तथा पुण्य के प्रतीक बालि के जीवन में अभिमान की पराकाष्ठा है। किन्तु महाभारत काल में अर्जुन (पुण्य) अभिमानशून्य है तथा कर्ण (ज्ञान) अहंकारी है। इसका सीधा सा तात्पर्य है कि जो व्यक्ति निरभिमानी है वही भगवान को प्रिय है। अगर ज्ञान के साथ निरभिमानिता होगी तो वह ईश्वर को पा लेगा, और यदि पुण्य में अहंकार का अभाव होगा, तो उसे ईश्वर की कृपा प्राप्त होगी।

रामायण काल में बालि यद्यपि सुग्रीव का बड़ा भाई है, पर उसकी मित्रता रावण से होती है। और महाभारत की विडम्बना भी वही है। कर्ण है तो पाण्डवों का बड़ा भाई पर उसका मित्र है दुर्योधन, और दुर्योधन है अन्धे का बेटा। इसका तात्पर्य क्या हुआ ? गोस्वामी जी से पूछा गया कि अन्धा कौन है ? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि मेरे विचार से तो अन्धा एक ही है :—

मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही। ७।६९।७

वे कहते हैं कि जिसके जीवन में मोह विद्यमान है, समझ लीजिए कि वह अन्धा है। इसका तात्पर्य है कि अन्धे का पुत्र होने के नाते दुर्योधन मोह का प्रतीक है। किन्तु दोनों प्रसंगों में सबसे बड़ा व्यंग्य यह है कि रामायण काल में यदि पाप और पुण्य में मित्रता हो जाती है, तो महाभारत काल में मोह और ज्ञान में मित्रता हो गई। इसी प्रकार यदि हमारे जीवन में भी पाप, पुण्य के साथ मिल कर रहे तथा ज्ञान, मोह के साथ निवास करे तो फिर ज्ञान और पुण्य की हमारे जीवन में सार्थकता ही क्या हुई ? इसीलिए महाभारत में वर्णन आता है कि भगवान श्री कृष्ण ने कर्ण से कहा कि वस्तुतः तुम कौन हो ? पहले यह तो जान लो। भगवान का तात्पर्य था कि शायद

अपने स्वरूप को न पहचान पाने के कारण ही यह दुर्योधन की सेवा में लगा हुआ है, यदि इसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाए तो यह किसी प्रकार से दुर्योधन की सेवा में नहीं रहेगा। "**कर्ण, दुर्योधन की सेवा कर रहा है**", यह केवल इतिहास का ही सत्य नहीं है, अपितु आध्यात्मिक सत्य भी यही है। क्योंकि जीव, मोह का अनुगमन तभी करता है जब जीव को अपने "**स्वरूप**" का ज्ञान नहीं होता है। और जीव का स्वरूप बताते हुए रामचरितमानस में कहा गया कि :—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी ।
चेतन अमल सहज सुख रासी ।। ७।११६।२

गोस्वामीजी ने कहा, भई ! जीव तो शुद्ध है, बुद्ध है, मुक्त है तथा वह तो साक्षात् ईश्वर का अंश है। और भगवान राम इसी सूत्र की व्याख्या एक भिन्न रूप में भी करते हैं।

रामचरितमानस में आप एक अनोखा प्रसंग यह देखेंगे कि जब विभीषण जी भगवान श्री राम की शरण में आते हैं, तब प्रभु ने उन्हें "**लंकेश**" कह कर सम्बोधित किया।

कहु लंकेस सहित परिवारा । ५।४५।४

तो क्या सचमुच प्रभु ने विभीषण को केवल लंका का राज्य ही दिया। साधारण व्यक्ति को तो यही लगेगा कि श्री राम ने विभीषण को लंका का राज्य दे दिया, किन्तु इसका तात्त्विक अभिप्राय तो कुछ और ही है। प्रभु से जब यह प्रश्न किया गया कि आपके दर्शन का फल क्या है ? तब भगवान श्री राघवेन्द्र ने कहा कि दर्शन देने पर मैं व्यक्ति को उदारतापूर्वक कुछ देता नहीं। शबरी जी ने कहा कि तब फिर आपके दर्शन की विशेषता क्या है ? तो भगवान कहते हैं कि :—

मम दरसन फल परम अनूपा। ३।३५।९

मेरे दर्शन का सर्वथा अनोखा फल यह है कि :—

जीव पाव निज सहज सरूपा ।। ३।३५।९

उन्होंने कहा कि जीव अपने सहज स्वरूप को भूल गया है। मेरा दर्शन करने के पश्चात् उसे अपने सहज स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि विभीषण को लंका की प्राप्ति का अभिप्राय है जीव को अपने ही स्वरूप की उपलब्धि। तथा विभीषण को उनके सहज स्वरूप की प्राप्ति कैसे कराई ? इस पर भी आप जरा विचार करें। सर्वप्रथम तो हम यह विचार करें कि विभीषण कौन हैं ? विभीषण जी को गोस्वामी जी "**जीव**" का प्रतीक मानते हैं।

"जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषण बसत मध्य दुष्टाटवीग्रसित चिन्ता"।

विनयपत्रिका-५८।

और जीव ईश्वर के समक्ष अपना परिचय देते हुए भूल कर बैठा। किन्तु भगवान राम उस भूल का निराकरण करना चाहते हैं। विभीषण ने अपना नाता किससे जोड़ा ? वे प्रभु से कहते हैं कि :—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता । ५।४४।७

महाराज ! मैं रावण का भाई हूँ।

निसिचर बंस जनम सुरत्राता ।। ५।४४।७

निशाचर जाति में मेरा जन्म हुआ तथा जिस प्रकार उल्लू को अन्धकार अच्छा लगता है, उसी प्रकार से मुझे पाप प्रिय है।

सहज पाप प्रिय तामस देहा।
जथा उलूकहि तम पर नेहा ।। ५।४४।८

यह कहकर विभीषण जी ने प्रभु को प्रणाम किया और भगवान राम ने उन्हें उठाकर गले से लगाया, तथा उनका भ्रम दूर करने की चेष्टा की। यहाँ पर मैं आपको यह भी संकेत कर दूँ कि भगवान राम से पहले श्री हनुमान जी भी विभीषण का भ्रम विनष्ट करने की चेष्टा करते हैं। और भ्रम दूर करने का तात्पर्य यह है कि जीव जब अपने सहज स्वरूप को सही-सही नहीं जान पाता है, तब वह ऐसी वृत्तियों से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, जिनसे उसका नाता शाश्वत नहीं है। और वह यह मान लेता है कि इनके साथ नाते का निर्वाह करना मेरा कर्तव्य है। विभीषण जी के मन में उसी प्रकार की भ्रान्ति थी। वे रावण को ही अपना भाई समझते थे, तथा रावण के प्रति कर्तव्य कर्म का निर्वाह ही, अपना धर्म मानते थे। किन्तु हनुमान जी तथा भगवान राम उस भ्रम का पूरी तरह से निराकरण कर देते हैं। हनुमानजी जब विभीषण से वार्तालाप करने लगे, तब उन्होंने यह नहीं कहा कि "**कहिए रावण के भाई विभीषण,**" आप ठीक तो हैं। और इतिहास की भाषा में विभीषण जी का यही परिचय माना जाता है। लेकिन हनुमान जी ने विभीषण जी से अनोखा वाक्य यह कहा कि :—

तब हनुमन्त कहा सुनु भ्राता। ५।७।४

वे कहते हैं, तुम रावण के भाई नहीं हो, अपितु तुम तो मेरे भाई हो। हनुमानजी का अभिप्राय यह था कि तुम अपने को रावण का भाई तो भ्रम वश समझ बैठे हो, अब तो तुम्हें यही निर्णय करना है कि वस्तुतः तुम्हारा भाई मैं हूँ कि रावण ? अगर तुम रावण को अपना भाई मानोगे तो उसके पीछे चलोगे और यदि मुझे भाई समझोगे, तो मेरा अनुगमन करोगे। यहाँ पर हम और आप यह विचार करेंगे कि रावण और विभीषण तथा लंका का स्वरूप क्या है ? तथा लंका का वास्तविक स्वामी कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गोस्वामी जी विनय पत्रिका में संकेत करते हैं कि जीव ही

विभीषण हैं। यह सूत्र मैं अभी आपके सामने दे चुका हूँ। और मोह ही रावण है।

'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित कामविश्रामहारी''

तथा प्रवृत्ति ही लंका है :—

''वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग रचितमन दनुजमय रूपधारी।''

विनयपत्रिका—५८

गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि भाई ! प्रवृत्ति के लंका दुर्ग पर राज्य तो मोह का ही दिखाई दे रहा है पर भगवान, जीव को यह बताना चाहते हैं कि इस प्रवृत्ति के वास्तविक स्वामी तो तुम्हीं हो, मोह नहीं। और विभीषण जी को यह भी भ्रम है कि एक ही पिता की सन्तान होने के नाते हम दोनों सगे भाई हैं। पर हनुमान जी ने उनसे कहा कि तुम दोनों को शरीर देने वाले पिता तो एक ही हैं, किन्तु विभीषण ! क्या तुम वस्तुतः शरीर हो ? इसका अभिप्राय है कि जीव तथा शरीर दोनों मिलकर अपने आपको व्यक्ति समझ बैठे हैं। इसलिए जब भी आप किसी से पूछिए कि **''आप कौन हैं''** ? तो वह यही कहेगा कि **''मैं अमुक का भाई हूँ, अमुक का पुत्र हूँ, तथा अमुक का पिता हूँ**, क्योंकि वह समस्त विचार शरीर को ही केन्द्र मानकर करता है। परन्तु हनुमानजी बताना चाहते हैं कि विभीषण ! तुम तो साक्षात् जीव तत्त्व हो और जीव तत्त्व का जन्म किसी व्यक्ति के द्वारा होता ही नहीं। किन्तु विभीषण जी कह सकते हैं कि यह तो ठीक है कि मैं रावण का भाई नहीं हूँ, लेकिन आप मेरे भाई कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि आप बन्दर जाति के हैं, और मैं ब्राह्मण जाति का। आप भारत के रहने वाले हैं तथा मैं लंका का। आपके और मेरे माता-पिता भी अलग-अलग हैं। तब हनुमान जी ने कहा कि बस ! यही तो तुम्हें समझना है कि **''तुम कौन हो''** तथा **''तुम्हारी माता कौन हैं''** ? और हनुमान जी ने एक अनोखा शब्द कहा कि:—

तब हनुमन्त कहा सुनु भ्राता।
देखी चहउँ जानकी माता।। ५।७।४

उन्होंने कहा कि हम दोनों की असली माता तो जानकीजी ही हैं। मैं भी श्री सीताजी का पुत्र हूँ और तुम भी उन्हीं के बेटे हो। इसका तात्पर्य है कि जीवतत्त्व को जन्म देने वाली तो आदिशक्ति श्री सीता ही हैं। हनुमानजी का विभीषण पर व्यंग्य यह था कि तुम्हारा कितना बड़ा दुर्भाग्य है, जो शरीर के नाते को सत्य मानकर तुम रावण के प्रति तो अपने कर्तव्य का निर्वाह कर रहे हो, परन्तु जगन्माता सीताजी के प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है, इसको पूरी तरह से भूले हुए हो। उनका अभिप्राय था कि जिस शरीर का तुम नाता मान रहे हो, वह तो अनित्य है, किन्तु जीव तत्त्व का

सम्बन्ध तो शाश्वत् ईश्वर से है। इसीलिए हनुमानजी ने न केवल वाणी से ही, अपितु व्यवहार के द्वारा भी विभीषण को यह बताया कि शरीर तथा जीव में क्या अन्तर है ? आगे चल कर उन्होंने सारी लंका को जला दिया, किन्तु विभीषण का घर नहीं जला। इसके द्वारा वे विभीषण को यह बताना चाहते थे कि अगर तुम सचमुच लंका के निवासी होते, यदि केवल शरीर ही होते तो तुम्हारा घर क्यों नहीं जलता ? और आध्यात्मिक अर्थ भी यही है कि जलता तो केवल शरीर ही है, जीवतत्त्व कभी नहीं जलता। हनुमानजी ने कहा, अरे मित्र ! तुम साक्षात् वह जीव तत्त्व हो जिसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि :—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

गीता में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन के समक्ष जीवतत्त्व का निरूपण करते हुए कहा कि यह जीवतत्त्व किसी शस्त्र के द्वारा काटा नहीं जा सकता, जल में डुबाया नहीं जा सकता, तथा अग्नि के द्वारा इसे जलाया नहीं जा सकता। हनुमानजी ने कहा, विभीषण ! ऐसा जीवतत्त्व होकर भी तुम अपनी क्षमता तथा अपने नाते को भूल कर यह समझ बैठे हो कि रावण बड़ा शक्तिशाली है, और तुम दुर्बल हो। किन्तु अब तुम पहचान लो कि तुम शक्तिशाली हो अथवा रावण ? यद्यपि रावण शक्तिशाली प्रतीत तो होता है पर वह अपना नगर जलने से नहीं बचा पाया, किन्तु बिना किसी प्रयास के भी तुम्हारा घर नहीं जला। और तब अन्त में रावण से विभीषण अलग हुए, दोनों का नाता टूटा, पर हानि किसकी हुई शरीर की, कि जीव की ? और सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि हमलोग सर्वदा चिन्ता करते रहते हैं कि कहीं हमारी मृत्यु न हो जाए, शरीर से हमारा नाता न टूट जाए। पर प्रश्न यह है कि इस प्रकार की चिन्ता शरीर को होनी चाहिए कि जीव को ? क्योंकि शरीर का साथ छूट भी जाए तो जीव की कोई हानि नहीं है। लेकिन जीव का साथ यदि छूट जाएगा, तब तो शरीर को जला कर नष्ट ही कर दिया जाएगा। इसी सूत्र की व्याख्या किष्किन्धा-काण्ड में की गई है। बालि की मृत्यु पर जब तारा रुदन करने लगी, तब भगवान ने पूछा कि तुम किसके लिए रो रही हो ? तारा ने कहा कि मैं अपने पति के लिए रो रही हूँ। "**तुम्हारा पति कौन है**" ? तो उसने कहा कि "**मेरा पति तो बालि है**" तो भगवान ने कहा कि जिस शरीर से तुम्हारा विवाह हुआ था वह शरीर तो सामने पड़ा हुआ है, तुम इसे ले जाओ। यदि तुम इस शरीर से नाता जोड़ सको तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। और यदि जीवतत्त्व के लिए चिन्ता करती हो तो मैं तुम्हें यह

बताना चाहता हूँ कि मृत्यु बालि की नहीं हुई है, मृत्यु तो उसके शरीर की हुई है। प्रभु ने कहा, तारा ! शरीर की तो अन्तिम परिणति यही है :—

छिति जल पावक गगन समीरा ।
पंच रचित अति अधम सरीरा ।।
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा । ४।१०।५

परन्तु जीव तो शाश्वत् है :—

जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ।। ४।१०।५

भगवान का तात्पर्य था कि शरीर तो पाँच-तत्त्वों से मिलकर बना है, इसलिए यह विनष्ट हो सकता है, किन्तु जीव तो ईश्वर का अंश होने के नाते अविनाशी है।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी ।
चेतन अमल सहज सुखरासी ।। ७।११।२

भगवान श्री राघवेन्द्र के इस विश्लेषण से तारा को ज्ञान प्राप्त हो गया। ज्ञान को रामचरितमानस में हंस का प्रतीक माना गया है। हंस की विशेषता यह है कि दूध और पानी यदि मिला कर रख दिया जाय तो भी वह उन दोनों को अलग कर सकता है। इसी प्रकार इस सृष्टि में जड़ और चेतन यह दोनों वस्तुएँ मिल गई हैं। किन्तु जब ज्ञान रूपी हंस हमें प्राप्त होगा तब हम इन दोनों के अलगाव को समझ सकेंगे, इनमें भेद कर सकेंगे, तथा यही ज्ञान तारा के जीवन में उत्पन्न हो गया। और तब तारा ने कहा प्रभु ! आप अपने चरण-कमलों की मंगलमयी भक्ति मुझे प्रदान कीजिए :—

उपजा ग्यान चरन तब लागी ।
लीन्हेसि परम भगति बर मागी ।। ४।१०।६

उसने कहा कि आपके द्वारा कहे गए इस सत्य को मैंने जान लिया है कि "**नाशवान तो शरीर ही है, जीव तत्त्व नहीं।**" और यही मूल प्रश्न यहाँ पर है कि रावण को विभीषण की चिन्ता होनी चाहिए कि विभीषण रावण की चिन्ता करें ? विभीषण को सर्वदा यही चिन्ता रहती थी कि मैं तो विश्वविजेता रावण का भाई हूँ। मेरे लिए समस्त सुख सुविधा तो वही उपलब्ध कराता है, उसके बिना मैं कैसे रहूँगा ? पर हनुमानजी बताना चाहते हैं कि—विभीषणजी ! आप यह चिन्ता मत कीजिए कि रावण से अलग होकर आपकी क्या दशा होगी ? अपितु उलट कर यह विचार कीजिए कि आपके बिना रावण की क्या दशा होगी ? किसी जिज्ञासु ने गोस्वामीजी से प्रश्न कर दिया कि महाराज ! विभीषण के चले जाने से लंका की तो कोई हानि हुई नहीं, क्योंकि लंका में जितनी वस्तुएँ थी वे सब तो ज्यों की त्यों बनी रहीं, केवल एक विभीषणजी ही तो

चले गए, इसमें विभीषण की हानि है, अथवा लंका की ? गोस्वामीजी ने तुरन्त व्यंग्य करते हुए कहा कि भई ! हानि तो लंका की ही हुई, विभीषण की नहीं। विभीषण के चले जाने पर लंकावासियों की दशा का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि :—

अस कहि चला विभीषनु जबहीं।
आयूहीन भए सब तबहीं।। ५।४१।१

उनका अभिप्राय था कि जीव जिस समय शरीर का परित्याग कर देता है, उस समय भी तो सोना, चाँदी, घर, परिवार आदि सब कुछ यहीं रह जाता है, अकेला जीव ही तो चला जाता है। पर हानि किसकी होती है ? इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः हानि तो शरीर की ही होती है, क्योंकि जीव के जाने के पश्चात् तो शरीर को केवल जलाना ही बाकी रह जाता है। इसका तात्पर्य है कि विभीषण के जाने के बाद तो लंका शव हो गई, अब तो उसकी अन्तिम क्रिया ही शेष है। किन्तु रावण कहता है कि विभीषण तो अभागा है, क्योंकि उसने लंका का परित्याग कर दिया।

करत राज लंका सठ त्यागी।
होइहि जव कर कीट अभागी।। ५।५२।५

तो क्या सचमुच विभीषण जी अभागे हैं ? गोस्वामी जी ने कहा कि भाई ! सच तो यह है कि :—

रावन जबहि बिभीषनु त्यागा।
भयउ बिभव बिनु तबहि अभागा।। ५।४१।३

उन्होंने कहा कि वस्तुतः अभागा तो रावण है, जिसने जीव रूपी विभीषण को लंका से निकाल कर अपने सर्वनाश को आमंत्रित किया। विभीषण तो सौभाग्यशाली हैं जो कि नाशवान लंका को छोड़कर श्री राम की शरण में पहुँच गए। इस प्रसङ्ग को एक दृष्टान्त के माध्यम से मैं आपको समझाना चाहूँगा।

एक छोटी सी गाथा यह आती है कि बारह व्यक्ति वर्षा में कहीं जा रहे थे, उस समय बिजली बड़ी तीव्रता से चमक रही थी, बिजली की कड़कड़ाहट से उन सबके मन में यह भय समा गया कि बिजली हम लोगों में से किसी एक पर गिरने वाली है। उन लोगों की मान्यता यह थी कि बिजली तो पापी व्यक्ति पर ही गिरती है। वे सोचने लगे कि पापी तो कोई एक होगा, किन्तु एक ही पापी के कारण हम सब लोग नष्ट हो जाएँगे। इसलिए पहले उस पापी का ही पता लगा लिया जाय, जिससे कि वही नष्ट हो, परन्तु बाकी सब तो बचे रहें। और तब वे लोग एक झोपड़ी में घुस गए तथा आपस में विचार किया, कि एक-एक करके सभी लोग कुटिया के बाहर

जाएँ, जो पापी व्यक्ति होगा, उस पर बिजली गिरेगी, और हम लोग बच जाएँगे। और एक-एक करके प्रत्येक व्यक्ति बाहर जाकर कुटिया में पुनः लौट आता है तथा बिजली किसी के ऊपर नहीं गिरी। इस प्रकार ग्यारह व्यक्ति बाहर जाकर लौट आए तथा ग्यारहों प्रसन्न थे कि चलो भाई हम लोग तो पापी नहीं हैं। और जब बारहवाँ जाने लगा तो यह लोग सोचने लगे कि यह बारहवाँ व्यक्ति ही पापी है, इसलिए यही नष्ट होगा। उस गाथा में सबसे अनोखी बात यह बताई गई कि बाँरहवें व्यक्ति के निकलते ही उस कुटिया पर बिजली गिरी, और वे ग्यारहों जलकर नष्ट हो गए, तब पता चला कि पुण्यात्मा तो बारहवाँ ही था। उसी के कारण सब बचे हुए थे। परन्तु उसके निकलते ही इन सबका विनाश हो गया। इसी प्रकार लंका में वस्तुतः पुण्यात्मा और भाग्यशाली तो एक मात्र विभीषण ही थे। विभीषण जब तक हैं, तभी तक सारा भाग्य है। इसका अर्थ है कि जब तक जीव है तब तक भाग्य बुद्धिमाता तथा योग्यता है, किन्तु जीव के जाते ही इन वस्तुओं का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। किसी-किसी व्यक्ति को देखकर ऐसा लगता है कि यह व्यक्ति तो सबको परास्त कर चुका है, कभी किसी से हारा नहीं, किन्तु शरीर में यह बल किसका है? रावण का शरीर कितना बलवान है, और लंका के रणांङ्गण में उसका वही शरीर पड़ा हुआ है। वही सिर है, वही भुजाएँ हैं, पर आज रावण की दशा क्या है? मन्दोदरी ने रुदन करते हुए यही तो कहा :—

तव बल नाथ डोल नित धरनी।
तेज हीन पावक सीस तरनी॥
सेष कमठ सहि सकहिं न भारा।
सो तनु भूमि परेउ भरि छारा॥ ६।१०३।६
अब तव सिर और भुज जंबुक खाहीं। ६।१०३।१२

रावण के सिर और भुजाओं पर चील्ह, कौवे तथा गीध प्रहार कर रहे हैं, अब कहाँ गयी रावण की वह शक्ति? इसका अभिप्राय है कि जब तक जीव तत्त्व विद्यमान है तब तक शरीर में सारी क्षमताएँ हैं, लेकिन जब जीव तत्त्व ही शरीर का परित्याग कर देगा, तब तो सब कुछ नष्ट हो जायगा। पर जीव का दुर्भाग्य यह है कि वह अपने को न पहचान पाने के कारण शरीर का सेवक बना हुआ है। यही दशा विभीषण की है। किन्तु हनुमानजी के द्वारा समझाने पर विभीषण किसी प्रकार रावण से अलग होकर श्रीराम के पास गए। किन्तु इस प्रसंग की सबसे बड़ी विचित्रता यह है, कि प्रभु के पास पहुँचने के पश्चात् भी विभीषण को श्रीराम की प्राप्ति नहीं हुई। यद्यपि प्रभु का स्वभाव यह है कि भक्त को

पुकार सुनकर वे दौड़े चले आते हैं। द्रौपदी तथा गजेन्द्र के लिए वे किस प्रकार दौड़ कर आते हैं, इसका बड़ा सुन्दर वर्णन पुराणों में किया गया है। पर बेचारे विभीषण को तो यहाँ पहुँचने के पश्चात् भी भगवान श्रीराम का दर्शन नहीं हुआ, क्योंकि बन्दरों ने उन्हें बाहर ही रोक दिया। यहाँ पर **प्रश्न** किया जा सकता है कि जीव को ईश्वर की प्राप्ति में यह विलम्ब क्यों लगा ? गोस्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा भाई ! यह विलम्ब भी जीव की अपनी ही भूल के कारण लगा। बन्दरों ने विभीषण से पूछ दिया कि महाराज ! आपका परिचय क्या है ? तब इनके मुख से अभ्यासजन्य वही पुराना वाक्य निकल पड़ा। सुग्रीवजी भगवान को परिचय देते हुए यही तो कहते हैं कि :—

आवा मिलन दसानन भाई।। ५।४२।४

विभीषणजी को कहना चाहिए था कि मेरे भाई हनुमानजी को सूचना दे दो कि जिस भाई को वे लंका में निमन्त्रण दे आए थे, वह आ गया है। और यदि हनुमानजी के भाई बनकर जाते तब तो तुरन्त विभीषणजी प्रवेश पा लेते। लेकिन उनके मन में तो अब भी वही पुराना संस्कार है कि **"मैं तो रावण का भाई हूँ"**, और यही संस्कार इस विलम्ब का कारण था। पर सबसे अनोखी बात है कि भगवान श्रीराम के समक्ष भी वही परिचय दे बैठे, और कहा कि :—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता।५।४४।७

महाराज ! **"मैं रावण का भाई हूँ"**, इस वाक्य को सुनकर प्रभु को हँसी आ गयी। गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि जैसे किसी व्यक्ति को घूरे पर के दाने एकत्र कर के खाने का अभ्यास हो जाए, और उसके पश्चात् यदि उसे राज्य भी प्राप्त हो जाए, पर जब तक वह घूरे के दाने इकट्ठे नहीं कर लेगा, तब तक उसको सन्तोष ही नहीं होगा।

नाम गरीबनेवाज को राज देत जनि जानि।
तुलसी मन परिहत नहिं घुरबिनिया कै बानि।।

और जब यहाँ भी वही पुराना परिचय देने लगे, तब भगवान राम ने कहा, मित्र ! तुम्हारा यह परिचय वास्तविक नहीं है। तुम्हारा असली परिचय तो मैं जानता हूँ। मेरी दृष्टि में तो तुम रावण के छोटे भाई नहीं हो अपितु तुम्हारा स्वरूप तो कुछ और ही है। तब भगवान श्री राघवेन्द्र ने विभीषण का स्वरूप बताते हुए कहा कि :—

कहु लंकेस सहित परिवारा।५।४५।४

"कहिए लंका के राजा", किन्तु भगवान राम के इस वाक्य को सुनकर विभीषणजी संकोच में गड़ गए। उन्होंने सोचा कि लगता है, प्रभु ने मेरे

हृदय के चोर को पकड़ लिया। क्योंकि अभी-अभी मेरे मन में राज्य की वासना आ गयी थी। लंका से आते हुए सर्वप्रथम तो विभीषणजी के मन में यह बात आई कि प्रभु मुझे शरण में लेंगे कि नहीं ? तब इन्हें स्मरण आया कि मुझसे पहले अगर प्रभु ने सुग्रीव जी को शरण में लिया है, तो मुझे भी स्वीकार कर ही लेंगे। उसके पश्चात् यह स्मरण आया कि सुग्रीव को शरण में लेने के बाद यदि बालि का वध किया है तो मुझे शरणागत स्वीकार करने के बाद रावण का वध भी करेंगे। और जब इतनी तुलना हो गई तब अन्त में ध्यान आया कि वालि का बध करने के पश्चात् किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को दिया तो अब रावण वध के पश्चात् लंका का राज्य तो मुझको ही प्राप्त होगा, इस प्रकार की बात उनके हृदय में आ गई थी। इसीलिए प्रभु के मुख से "**लंकेश**" शब्द सुनकर उनको ऐसा लगा कि मेरे मन की वासना को जानकर ही श्रीराम ने मुझे "**लंका का राजा**" कहा है। और तब विभीषणजी सफाई देने लगे कि महाराज !

उर कछु प्रथम बासना रही ।५।४८।६

प्रभु ! मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे मन में वासना थी, पर आपके चरणों का दर्शन करने के पश्चात् लंका का राज्य पाने की इच्छा पूरी तरह समाप्त हो गई है। प्रभु ने कहा, मित्र ! मैंने लंकेश इसलिए नहीं कहा था कि तुम्हारे मन में लंका के राज्य की कामना है, अपितु मैंने तो इसलिए कहा क्योंकि लंका के वास्तविक राजा तो तुम्हीं हो, किन्तु भ्रमवश तुम रावण को राजा समझ बैठे हो। वस्तुतः स्वामी तो जीव है, मोह नहीं। इसका अभिप्राय है कि पाप-पुण्य का, नित्य जीव का अनित्य शरीर से, तथा ज्ञान का अंधकार से समझौता अपने स्वरूप को न पहिचान पाने के कारण ही है। इसीलिए भगवान श्री राम विभीषण को उसके स्वरूप का बोध कराते हैं। और भगवान श्री कृष्ण भी कर्ण को यही ज्ञान देने की चेष्टा करते हैं। वर्णन आता है कि भगवान श्री कृष्ण जब दुर्योधन की सभा से जाने लगे तब उन्होंने कहा "**कर्ण तुम मेरे रथ पर बैठ जाओ**"। प्रभु के इस वाक्य पर आपने कभी विचार किया ? भगवान श्री कृष्ण का अभिप्राय था कि कर्ण ! तुम तो सूर्य पुत्र होने के नाते प्रकाश के पुंज हो, और प्रकाश पुंज होकर तुम दुर्योधन के रथ पर बैठो, यह तुम्हारी सार्थकता नहीं है। तुम्हें तो मेरे रथ पर बैठना चाहिए। अपने रथ पर बैठाने के पश्चात् भगवान श्यामसुन्दर ने कर्ण से पूछा कि क्या वस्तुतः तुम उस सारथी के पुत्र हो जिसने तुम्हारा पालन किया है ? भगवान का अभिप्राय था कि तुम, एक सारथी का बेटा मानकर अपने को व्यर्थ ही, हीन समझते हो। और सचमुच कर्ण के मन में यह वृत्ति आ गयी थी कि लोग सारथी का बेटा समझकर मुझे हीन

दृष्टि से देखते हैं। वैसे कर्ण बड़ा योद्धा था, उसमें अद्भुत क्षमताएँ थी, किन्तु अर्जुन के प्रति ईर्ष्या उसमें अवश्य थी। महाभारत में एक प्रसङ्ग आता है कि गुरु द्रोणाचार्य जी ने अपने शिष्यों के अस्त्र-शस्त्र कौशल की परीक्षा लेने के उद्देश्य से एक विशाल सार्वजनिक सभा का आयोजन किया। उस सभा में उनके सभी शिष्यों ने अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन किया, और सबसे अन्त में जब अर्जुन ने अपने चमत्कार दिखाए, तब सारी सभा आश्चर्यचकित रह गई, तथा प्रत्येक व्यक्ति अर्जुन की जय घोष करने लगा। किन्तु कर्ण इस जयघोष को सहन नहीं कर सका, उसके मन में यही होड़ की वृत्ति थी कि मेरे रहते हुए दूसरे व्यक्ति की जय बोली जाय? और होड़ की इस वृत्ति में बालि भी पीछे नहीं है। यद्यपि बालि, सुग्रीव को बहुत मानता था, पर उन्हें अपने सिंहासन पर बैठे देख लिया तो क्रोध आ गया, और सुग्रीव को मारकर भगा दिया। और जब कर्ण को अर्जुन की प्रशंसा सहन नहीं हुई तो तुरन्त दर्शक दीर्घा से कूद कर उसने कहा कि अर्जुन ने जो कुछ कौशल दिखलाए हैं, मैं वह सभी दिखला सकता हूँ। और सचमुच कर्ण ने अर्जुन की अपेक्षा भी अधिक चमत्कारिक रूप से समस्त कौशल दिखला दिए। उस समय अचानक भीम ने कर्ण को नीचा दिखाने के उद्देश्य से कह दिया, यह कौन व्यक्ति है, जो अर्जुन की बराबरी कर रहा है? कहा जाता है उसी समय वह सारथी भी वहाँ पर आ गया जिसने कर्ण को पाला था, तथा कर्ण ने उसको प्रणाम किया। और तब भीम ने कर्ण की हँसी उड़ाते हुए कहा कि एक सारथी का बेटा इतना दुस्साहसी हो गया कि अर्जुन की बराबरी कर रहा है, उस समय कर्ण ने यही उत्तर दिया कि :—

दैवायत्तं कुले जन्म मयायत्तं तु पौरुषम्।

उसने कहा कि उत्तम कुल में जन्म होना प्रारब्ध की बात है, परन्तु पौरुष अपने हाथ में है, वह मैंने कर के दिखाया। लेकिन उसे यह संकोच लगा कि उसे राजकुल का न मानकर भरी सभा में उसकी हँसी उड़ाई गई। उस समय दुर्योधन ने उदारता का परिचय देते हुए, कर्ण को अङ्ग देश का राज्य दे दिया। इस प्रसङ्ग में यह बात आप अच्छी तरह समझ लीजिए कि सज्जन व्यक्ति अगर उदार बने तो कोई चिन्ता की बात नहीं है, पर बुरा व्यक्ति जब उदार बनता है, तो बड़ा खतरनाक सिद्ध होता है। विभीषण के जीवन की समस्या थी। जब रावण ने तपस्या करके लौटने के पश्चात् विभीषण से कह दिया कि मैं तुम्हारे लिए मन्दिर बनवा कर पूजा-पाठ का प्रबन्ध किए देता हूँ, तुम आनन्द से उसमें भजन किया करो, तो विभीषण यह सोचकर प्रसन्न हो गए कि अगर रावण मुझे भजन करने से रोकता, तब तो बहुत बड़ी समस्या उत्पन्न होती, किन्तु जब रावण ने स्वयं यह कह दिया

कि तुम लंका में रहकर साधना करो, तो अब कोई बाधा नहीं रही। परन्तु रावण की बुद्धि तो स्वार्थ से पूरी तरह ओत-प्रोत थी। यहाँ पर रावण तथा-दुर्योधन एक ही पात्र के दो रूप दिखाई देते हैं। दोनों की मनोवृत्ति बिल्कुल एक ही है। रावण की उदारता के मूल में स्वार्थ यह था कि जब ब्रह्मा और शंकर, रावण, कुम्भकरण को वरदान देने के पश्चात् विभीषण के पास पहुँचे तो रावण के कान खड़े हो गए, वह सोचने लगा कि देखें यह क्या वरदान माँगता है, और जब विभीषण ने यह कहा कि :—

तेहि मागेउ भगवंत पद कमल अमल अनुराग।। १।१७७

विभीषण जी ने वरदान माँगा कि प्रभु के चरणों में मेरा प्रेम हो, मुझे तो भक्ति चाहिए। तब रावण सोचने लगा कि अब मुझे क्या करना चाहिए ? उसने विचार किया कि अगर मैं यह चेष्टा करूँगा कि विभीषण भजन न करे, यह भक्ति न करे, और मेरे द्वारा बलात् चेष्टा करने पर यदि इसकी भक्ति छूट गई तो इसका अर्थ होगा कि ब्रह्मा और शंकर के द्वारा इसको दिया गया वरदान झूठा हो गया। और यदि इसको दिया गया वरदान झूठा हो गया तो मुझको दिया हुआ भी असत्य हो सकता है। इसलिए अच्छा यह है कि हमारा भी वरदान बना रहे तथा इसका भी वरदान बना रहे, इसका अभिप्राय है कि रावण की उदारता के पीछे भी यही स्वार्थवृत्ति विद्यमान है। और दुर्योधन की उदारता के पीछे भी इसी प्रकार की मनोवृत्ति थी। दुर्योधन यह जानता है कि भविष्य में तो मुझे पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध करना ही है, उस समय अर्जुन के समान ही अस्त्र विद्या में पारंगत कोई योद्धा मेरी ओर भी होना चाहिए, और वह योद्धा कर्ण ही हो सकता है। वस्तुतः इसी स्वार्थ वृत्ति को ध्यान में रखकर उसने भीम को नीचा दिखाने के लिए कर्ण को राज्य देते हुए कहा कि आज से राजा होने के कारण अब तुम अर्जुन की अपेक्षा छोटे नहीं हो। दुर्योधन के इस उदात्त व्यवहार को देखकर कर्ण उसके प्रति कृतज्ञ हो जाता है। यद्यपि व्यावहारिक अर्थ में उसकी कृतज्ञता बुरी नहीं है, पर प्रश्न यह है कि कृतज्ञ कर्ण को होना चाहिए या उस दुर्योधन को होना चाहिए, जिसकी उदारता के मूल में भी स्वार्थ-परायणता ही छिपी हुई है। और वस्तुतः कृतज्ञ तो दुर्योधन को ही होना चाहिए जो कर्ण के द्वारा अपने स्वार्थ की पूर्ति चाहता है।

भगवान कृष्ण ने आगे समझाते हुए कहा, कर्ण ! तुम सारथी के बेटे नहीं हो, अपितु तुम तो कुन्ती के पुत्र हो, युधिष्ठिर के बड़े भाई हो। युधिष्ठिर साक्षात् धर्म के रूप माने जाते हैं। इसका अभिप्राय है कि ज्ञान तो धर्म का बड़ा भाई है। भगवान ने कहा कि मैं तो यह चाहता हूँ कि तुम सिंहासन पर बैठो तथा युधिष्ठिर तुम्हारी सेवा करें। इसलिए तुम

दुर्योधन का साथ छोड़ दो, लेकिन कर्ण ने कहा, महाराज ! जिस दुर्योधन ने इतने दिनों तक मेरा सम्मान किया, मुझे इतनी सुविधा दी, तो अब मैं उसका साथ कैसे छोड़ दूँ ? कर्ण का यह उत्तर तो उसी प्रकार का प्रतीत होता है कि जैसे कोई व्यक्ति बहुत दिनों तक अपने जीवन में काम, क्रोध, लोभ का प्रयोग करता रहे तथा यदि उससे यह कहा जाए कि तुम इन दुर्गुणों को छोड़ दो और तब वह कहने लगे कि काम, क्रोध, लोभ, तो मेरे लड़कपन के साथी हैं, इन्हें मैं कैसे छोड़ दूँ, तो ऐसे व्यक्ति को क्या हम बुद्धिमान कहेंगे, ? भगवान का तात्पर्य है कि जब हम बुराई को बुराई समझ लें, तब उसे तुरन्त छोड़ देना चाहिए। किन्तु भगवान कृष्ण की बात को कर्ण नहीं समझ पाता है, वह दुर्योधन का ही पक्ष लेता है, मोह का ही साथ देता है।

इस प्रसङ्ग को स्पष्ट करने के लिए रामचरितमानस में यह बताया गया कि योद्धा को धर्म रथ पर बैठना अत्यन्त आवश्यक है। तथा कर्ण भी अपने जीवन में धर्म के रथ पर बैठता था। वह बड़ा दानी था, अत्यन्त कृतज्ञ तथा महान सत्यवादी था, किन्तु इतना होने पर भी भगवान कृष्ण ने ऐसे समय में उसका वध करा दिया, जब वह रथ से नीचे उतरा हुआ था। इसका तात्पर्य क्या है ? इसका तात्पर्य है कि कर्ण तो धर्म रथ पर बैठा हुआ है, इस प्रकार धर्म का बल प्राप्त हो रहा है ज्ञान को, तथा ज्ञान (कर्ण) का बल अज्ञान (दुर्योधन) को शक्ति दे रहा है। और भगवान कृष्ण का अभिप्राय है कि जो ज्ञान, अज्ञान को बल दे रहा हो, उसे तुरन्त विनष्ट करो, उसे मारने में संकोच नहीं करना चाहिए। और रामचरितमानस में बालि की समस्या यही है कि पुण्यात्मा बालि शक्तिशाली होते हुए भी मित्र बन चुका है अंधकार रूप रावण का। उसके जीवन में भी प्रदर्शन की प्रवृत्ति व्याप्त हो गयी है, लेकिन सुग्रीव के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता वही है, जो अर्जुन के जीवन में है। महाभारत में यदि अर्जुन के मन में विचार आता है कि युद्ध नहीं करना चाहिए, तो रामायण में सुग्रीब के अन्तःकरण में यह भावना आती है कि लड़ना ठीक नहीं। यह दोनों प्रसङ्ग रामचरितमानस तथा गीता में बिल्कुल एक जैसे ही हैं। तथा दोनों प्रसङ्गों में यह अनोखा साम्य है कि एक ओर यदि भगवान राम ने सुग्रीव को युद्ध करने के लिए बाध्य किया तो दूसरी ओर भगवान कृष्ण अर्जुन को लड़ने के लिए बाध्य करते हैं। तथा सुग्रीव और अर्जुन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे दोनों ही निरभिमानी हैं।

अर्जुन ने भगवान से कहा, प्रभु मेरा विचार तो यही है कि मैं युद्ध से विरत हो जाऊँ लेकिन महाराज ! मैं तो आपका शरणागत हूँ, आपका शिष्य हूँ इसलिए आप ही कृपा करके बताइए कि मुझे क्या करना चाहिए। अर्जुन ने प्रार्थना करते हुए कहा कि :—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः ।
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़चेताः ।।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।। गीता ।२।७

आप जो आदेश देंगे, मैं वही करूँगा "**करिष्ये बचनं तव**"। और त्रेतायुग में भगवान राम भी सुग्रीव की निरभिमानिता पर रीझ गए। भगवान श्री राघवेन्द्र इतना रीझ क्यों गए ! वर्णन आता है कि जब सुग्रीव जी अपनी आत्मकथा सुनाने लगे तब सब लोग यही सोचने लगे कि शायद इस व्यक्ति का सारा जीवन तो भागते ही बीता है। पर भगवान राम तो सुग्रीव की बात सुनकर गद्गद् हो गए, तथा सोचने लगे कि जीवन में भागते तो अनेक व्यक्ति हैं, किन्तु अपना भागना इस प्रकार कोई नहीं बतलाता है। सुग्रीव भी यदि चाहते तो अपने चरित्र के इस कमजोर पक्ष को छिपा ले जाते। लेकिन यह कितने सरल और निरभिमानी हैं, जो इस प्रकार सबके सन्मुख अपनी दुर्बलता का वर्णन कर रहे हैं। इसलिए भक्ति देवी की प्राप्ति में तो यही व्यक्ति सहायक हो सकता है। क्योंकि भक्त का तो सबसे बड़ा लक्षण यही है कि :—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई । ७।४५।२

प्रभु ने कहा कि भक्ति की प्राप्ति के लिए व्यक्ति में सरलता तथा निरभिमानिता आना अत्यन्त आवश्यक है। और सुग्रीव में यह दोनों महान गुण विद्यमान हैं। सुग्रीव की सरलता को देखकर तो प्रभु पग-पग पर प्रसन्न होते हैं। आगे चलकर प्रसङ्ग आता है कि जब सुग्रीवजी भगवान राम को भूल गए और चार महीने तक उनसे मिलने नहीं आए तब प्रभु ने लक्ष्मणजी को किष्किन्धा में भेजते हुए कहा कि सुग्रीव को भय दिखाकर मेरे पास ले आओ। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि सुग्रीव के जीवन में तो बार-बार भय के प्रसङ्ग आते हैं, तथा दूसरी ओर बालि के जीवन में हमें निर्भयता दिखाई देती है। इसका तात्पर्य क्या है ? तो गोस्वामीजी ने उत्तर दिया कि भई ! पुरुषार्थ का सदुपयोग कर्म है, और विचार का सदुपयोग ज्ञान। पुनः प्रश्न किया गया कि महाराज ! भक्ति की परिभाषा क्या है ? तब उन्होंने कहा कि दुर्गुण हो चाहे सद्गुण, अच्छाई हो अथवा बुराई, किन्तु सबका सदुपयोग कर लेना ही भक्ति है। इसीलिए बालि यदि अपनी निर्भयता का दुरुपयोग करता हुआ, ईश्वर से दूर चला जाता है तो सुग्रीव के भय का सदुपयोग भगवान श्री राम स्वयं कर लेते हैं। प्रभु ने कहा लक्ष्मण ! सुग्रीव तो भय के कारण ही मेरे पास आया था, मैंने उसका डर छुड़ा दिया तो वह मुझे भी भूल गया, तुम पुनः थोड़ा सा भय उसे दिखा दो तो वह

तुरन्त मेरे पास चला आएगा। और जब श्री लक्ष्मणजी इनको लेकर आए तब प्रभु ने सुग्रीव से कुछ नहीं पूछा। अपितु केवल इतना कहा कि **"मित्र कुशल से तो हो"**, किन्तु सुग्रीव इतने सरल स्वभाव के थे कि बिना पूछे ही अपने चरित्र की दुर्बलताओं को गिनाने लगे, और कहा कि :—

बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी।
मैं पावँर पसु कपि अति कामी।। ४।२०।३

इन्होंने कहा कि महाराज! मैं तो पामर पशु हूँ, अत्यन्त कामी हूँ। मुझमें तो दोष ही दोष भरे हुए हैं। सुग्रीव के मुख से यह वाक्य सुनते ही प्रभु मुस्कुराते हुए बोले कि :—

तब रघुपति बोले मुसुकाई।
तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई।। ४।२०।७

भाई! तुम तो मुझे बिलकुल भरत के समान प्रिय लगते हो। वैसे यदि विचार करें तो यही लगता है कि क्या सुग्रीव तथा भरत में कोई तुलना हो सकती है? लेकिन भगवान राम का तात्पर्य था कि भरत भी परम सरल हैं और तुम्हारा हृदय भी अत्यन्त सरल है, इसीलिए मुझे भरत और तुममें कोई अन्तर नहीं दिखाई दे रहा है। आगे चलकर विभीषण-शरणागति के प्रसङ्ग में सुग्रीव ने प्रभु से पूछा कि महाराज! अगर कोई पापी व्यक्ति आया हुआ है, तो क्या आप उसको शरण में लेंगे? सुग्रीव का वाक्य सुनकर भगवान राम ने हनुमानजी से प्रश्न कर दिया कि तुम्हारी समझ से विभीषण कैसा है? प्रभु को आशा थी कि हनुमानजी तो विभीषण का ही समर्थन करेंगे, किन्तु हनुमानजी ने कहा प्रभु! मैं यह बिलकुल नहीं कहता कि विभीषण कैसे हैं, लेकिन इतना तो अवश्य कहूँगा कि आप यह पूछते ही क्यों हैं कि विभीषण अच्छे हैं या बुरे? क्योंकि शरणागति न्यायालय नहीं है अपितु यह तो औषधालय है, तथा औषधालय में किसी से यह पूछना ही उचित नहीं है कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक है कि नहीं। हनुमानजी का अभिप्राय था कि विभीषण अगर रोगी हैं तब तो आपके लिए यह एक चुनौती है कि आप रोगी को स्वस्थता प्रदान कर सकते हैं अथवा नहीं। और तब भगवान श्री राम ने भी कह दिया कि अच्छा भाई! जीव कितना भी बड़ा रोगी क्यों न हो, पर यदि वह अपनी दुर्बलता को स्वीकार करके मेरी शरण में आ जाता है, तो फिर उसका रोग दूर करने का भार मुझ पर है :—

जौं नर होइ चराचर द्रोही।
आवै सभय सरन तकि मोही।।
तजि मद मोह कपट छल नाना।
करउँ सद्य तेहि साधु समाना।। ५।४७।३

सुग्रीव अपनी दुर्बलता को अत्यन्त सरल भाव से प्रभु के समक्ष रख देते हैं। और यही सरलता उन्हें भगवान से मिलाती है, तथा यही भक्ति की प्राप्ति का मार्ग है। और उन सुग्रीवजी के द्वारा श्री सीताजी की खोज कैसे कराई जाती है ? इसकी चर्चा हम कल करेंगे, आज इतना ही।

बोलिए सियाबर रामचन्द्र की जय।

श्री रामः शरणं मम

षष्ठ प्रवचन

जनक सुता कइ सुधि भामिनी।
जानहि कहु करिवरगामिनी॥
पंपा सरहि जाहु रघुराई।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा।
जानतहूँ पूछहु मतिधीरा॥
बार बार प्रभु पद सिरु नाई।
प्रेम सहित सब कथा सुनाई॥

कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदयँ पद पंकज धरे।
तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे॥
नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू॥
जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्हि असि नारि।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि॥ ३।३६

आइए, अब कुछ समय के लिए एकाग्र तथा शान्त चित्त से भगवती श्री सीता के अन्वेषण का जो पथ भगवान श्री राघवेन्द्र ने अपने चरित्र के माध्यम से प्रकट किया, उसका रहस्य हृदयंगम करने की चेष्टा करें।

भगवान श्री राघवेन्द्र के विदेहनन्दिनी की प्राप्ति का उपाय पूछने पर शबरीजी ने उनसे कहा कि प्रभु! सब कुछ जानते हुए भी आपने मुझे यह गौरव दिया कि मैं जनकनन्दिनी की उपलब्धि का मार्ग बताऊँ, यह तो आपकी उदारता है, पर मैं तो यही कहूँगी कि आप पम्पासर की यात्रा

कीजिए, वहाँ पर सुग्रीव से आपकी मित्रता होगी, उसके पश्चात् विदेहनन्दिनी के अन्वेषण का क्रम प्रारम्भ होगा, तथा अन्त में श्री सीताजी से आपका मिलन होगा। शबरीजी के इस अनुरोध को स्वीकार करके भगवान श्री राघवेन्द्र जिस समय ऋष्यमूक पर्वत के समीप पिहुँचते हैं, उस समय सुग्रीवजी की दृष्टि इन दोनों पर पड़ती है, इसी प्रसङ्ग की व्याख्या पिछले दिनों से आपके समक्ष चल रही है, आज हम इस प्रसङ्ग पर कुछ और विचार करेंगे।

साधारण दृष्टि से सुग्रीव के जीवन पर विचार करते समय, उनके चरित्र में हमें अनेक दुर्बलताएँ दृष्टिगोचर होती है, किन्तु इतना होते हुए भी विदेहनन्दिनी की प्राप्ति का मार्ग उन्हीं के द्वारा प्रशस्त होता है, इसका अभिप्राय क्या है ? और रामचरितमानस में वर्णित सुग्रीव का प्रारम्भिक चित्र भी बड़ा अटपटा सा है क्योंकि भगवान राम तथा लक्ष्मण को आते हुए देखकर सुग्रीव के अन्तःकरण में भय का ही संचार हुआ, तथा भयभीत सुग्रीव ने हनुमानजी से कहा—मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि बालि ने ही मेरा वध करने के लिए इन दोनों राजकुमारों को यहाँ भेजा है। पर आप ब्राह्मण का वेष बनाकर इनके पास जाइए और मुझे वहीं से संकेत कर दीजिए कि ये मैत्री भावना लेकर आए हैं अथवा बालि के भेजे हुए कोई योद्धा हैं। सुग्रीव ने कहा कि अगर इनका उद्देश्य केवल मेरा वध करना है तो मैं निश्चितरूप से इस पर्वत का परित्याग करके भाग जाऊँगा। इस प्रसङ्ग को पढ़कर तो यही प्रतीत होता है कि वे ईश्वर को पहचानने में असमर्थ हैं, तथा ईश्वर के प्रति भी उनके मन में संशयात्मिका वृत्ति ही है। किन्तु इस प्रसङ्ग पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो सुग्रीव के चरित्र का एक दूसरा पक्ष ही हमारे समक्ष प्रगट होता है। और वह दूसरा पक्ष यह है कि सुग्रीव के जीवन में कितनी भी दुर्बलताएँ क्यों न रही हों लेकिन उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्हें अपने अज्ञान का ज्ञान है। और अपनी कमी को जान लेना, उस व्यक्ति के लिए सम्भव है, जिसके जीवन में अहंकार नहीं है। इसका तात्पर्य है कि सुग्रीव को अगर अपनी ही दृष्टि पर भरोसा होता तो वे श्रीराम और लक्ष्मण को आते हुए देखकर ऋष्यमूक पर्वत से भाग खड़े होते। लेकिन उनकी विशेषता यही है कि वे अपनी दृष्टि की कमी को जानते हैं, तथा उस कमी का निराकरण करने के लिए वे श्री हनुमानजी का आश्रय लेते हैं। आगे चलकर विदेहनन्दिनी के अन्वेषण में जिनकी भूमिका सबसे विलक्षण है, वे श्री हनुमानजी ही हैं। आइए इस सन्दर्भ में सुग्रीव तथा हनुमान के सम्बन्ध में थोड़ा विचार करें।

इस प्रसङ्ग में मैं आपको यह स्मरण दिला दूँ कि, महाभारत तथा रामचरितमानस दोनों में ही श्री हनुमानजी की भूमिका अप्रतिम है।

महाभारत में भी हनुमानजी हैं और रामायण में भी। पर अन्तर यह है कि रामायण काल में जहाँ हनुमानजी की सुग्रीव से मित्रता है, वहीं महाभारत काल में कर्ण से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु अर्जुन से उनका बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। तथा दूसरा बदला हुआ क्रम यह दिखाई देता है कि त्रेता युग में तो हनुमानजी ने सुग्रीव और भगवान की मित्रता कराई, किन्तु द्वापर युग में भगवान ही अर्जुन तथा हनुमानजी की मित्रता कराते हैं। इसका अर्थ है कि एक अवतार में यदि भक्त के द्वारा मित्रता कराई जाती है, तो दूसरे में भगवान के द्वारा। लेकिन यहाँ एक महत्त्वपूर्ण संकेत यह है कि हनुमानजी त्रेतायुग में सूर्य के पुत्र (सुग्रीव) से जुड़े हुए हैं और द्वापरयुग में इन्द्र के पुत्र (अर्जुन) से उनका घनिष्ट सम्बन्ध है। इसका अभिप्राय है कि जिधर हनुमानजी हैं उधर ही भगवान राम तथा भगवान कृष्ण हैं। जिसके साथ हनुमानजी नहीं हैं वह ईश्वर की कृपा प्राप्त करने में सक्षम नहीं हो सकता। एक अवतार में हनुमानजी ज्ञान के साथ मैत्री करते हैं और दूसरे में उनकी मित्रता पुण्य के साथ है, ऐसा क्यों ? तथा हनुमानजी ही सीताजी का पता लगाने में समर्थ क्यों होते हैं ? उनके बिना न तो भगवान की प्राप्ति होती है, और न ही भक्ति की। इसका रहस्य क्या है ? तथा श्री हनुमानजी का स्वरूप क्या है ? आइए इन प्रश्नों पर भी थोड़ा विचार करें।

हनुमानजी का परिचय देना सचमुच बड़ा जटिल कार्य है, अन्य पात्रों के चरित्र को समझना, जितना सरल है, उतना ही कठिन हनुमानजी के चरित्र को समझना है। क्योंकि अन्य वन्दरों का सम्बन्ध तो एक-एक देवता से जोड़ दिया गया, इसलिए उनका परिचय देना सरल है। बालि का सम्बन्ध जैसे इन्द्र से जुड़ा हुआ है, सुग्रीव का सूर्य से, जाम्बवान का ब्रह्मा से तथा नल-नील का सम्बन्ध अश्वनीकुमारों से जोड़ा गया है। पर हनुमानजी के विषय में सबसे अनोखी सी बात यह आती है कि एक ओर तो उन्हें साक्षात् भगवान शंकर का अवतार माना गया है, किन्तु दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि वे पवन देवता के पुत्र हैं। इसका तात्पर्य है कि हनुमानजी का सम्बन्ध भगवान शंकर से भी है और पवन देवता से भी। परन्तु हनुमानजी के जन्म की एक ऐसी भी कथा आई है, जिसमें उनका सम्बन्ध भगवान राम से जुड़ा है। वह कथा इस रूप में आती है, कि जब त्रेतायुग में महाराज श्री दशरथ ने पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से पुत्रेष्टि यज्ञ किया, तब अग्निदेव ने प्रगट होकर चरू का पात्र देते हुए महाराज श्री दशरथ से कहा कि आप इसे रानियों में वितरित कर दें। और महाराज श्री दशरथ ने जब खीर का एक भाग महारानी कैकेयी को दिया, उसी समय एक चीलह ने आकर कैकेयीजी के हाथ पर झपट्टा मारा, तथा चरू का थोड़ा सा भाग अपनी चोंच में दबाकर

उड़ गई। और दूसरी ओर अञ्जनाजी भी पुत्र प्राप्ति के लिए तपस्या कर रही थीं। तथा जिस समय यह चील्ह वहाँ पहुँची उस समय वे अंजलि बाँध कर अर्घ्य दे रही थीं। अचानक वह खीर चील्ह की चोंच से निकल कर अञ्जनाजी की अंजलि में गिरी और तब आकाशवाणी द्वारा उन्हें यह संकेत प्राप्त हुआ कि खीर के इस भाग को तुम ग्रहण कर लो, इसके द्वारा तुम्हें एक अत्यन्त सुयोग्य पुत्र प्राप्त होगा। अञ्जना देवीजी ने ईश्वरीय संकेत को मानकर उसे ग्रहण किया, तथा उसी खीर के द्वारा हनुमानजी का जन्म हुआ। इसका अर्थ है कि अगर आप हनुमानजी के जन्म को चरू से सम्बन्धित करके देखें तो ऐसा लगता है कि वे भगवान राम के अंश के रूप में ही जन्म लेते हैं। क्योंकि चरू के रूप में भगवान श्रीराम के ही भागों का विविध रूप में वितरण किया गया था। इस प्रकार वे भगवान श्रीराम के पुत्र हैं। रामचरितमानस में भी इस सम्बन्ध की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि :—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। ५।३१।७

और दूसरी ओर हनुमानजी को साक्षात् भगवान शंकर का अवतार माना जाता है। यद्यपि रामचरितमानस में गोस्वामीजी ने स्पष्ट न कहकर केवल सांकेतिक रूप में ही इसकी स्वीकृति दी है। रामचरितमानस में प्रत्येक काण्ड के प्रारम्भ में भगवान राम तथा भगवान शंकर दोनों की ही वन्दना गोस्वामीजी करते हैं। इस परम्परा का निर्वाह वे छः काण्डों में पूरी तरह से करते हैं, लेकिन सुन्दर काण्ड में उन्होंने भगवान श्रीराम की वन्दना तो की है, पर भगवान शंकर की नहीं की। यद्यपि गोस्वामीजी का यह कार्य बड़ा अटपटा सा प्रतीत होता है, पर उसका तात्पर्य हमें तब समझ में आता है जब हम यह देखें कि भगवान शंकर के स्थान पर वे किसकी वन्दना करते हैं। और तब हम यह पाएँगे कि सुन्दर काण्ड में वे शंकरजी के स्थान पर श्री हनुमानजी की वन्दना करते हैं। इस कार्य के द्वारा उन्होंने भावुक भक्तों को यह सूचित किया कि भाई! हनुमानजी की वन्दना करो चाहे शंकरजी की, किन्तु दोनों का तात्पर्य तो एक ही है। इस प्रकार हनुमानजी हमें साक्षात् शंकर के रूप में दिखाई देते हैं। और रामचरितमानस में पवन-पुत्र के रूप में तो बार-बार उनका स्मरण किया ही गया है।

"जात पवनसुत देवन्ह देखा"।

पूर्वोक्त तीनों सूत्रों को दृष्टिगत रखकर हनुमानजी के व्यक्तित्त्व पर यदि हम विचार करें, तो ऐसा लगेगा कि बालि, सुग्रीव, जाम्बवान तथा नल-नील आदि जितने भी पात्र हैं, उन सबकी भूमिका किसी एक प्रकार की है। जिस देवता का सम्बन्ध जिस पात्र से जोड़ा गया है, उस देवता की जो भूमिका होनी चाहिए वही भूमिका रामचरितमानस में वर्णित उस पात्र के जीवन में

भी दिखाई देती है। पर हनुमानजी की भूमिका पर विचार करने से पूर्व हमें बालकाण्ड के उस प्रसङ्ग पर विचार करना होगा जिसके द्वारा गोस्वामीजी रामायण में चार श्रोता तथा वक्ताओं की परम्परा का उल्लेख करते हैं। इसका अर्थ है, रामचरितमानस को चार दृष्टियों से देखा गया है। क्योंकि कुछ ग्रन्थ ऐसे होते हैं जिनमें वेदान्त का ही निरूपण होता है। वे ज्ञानियों को प्रिय होते हैं। और कुछ ग्रन्थ ऐसे भाव तथा रसपूर्ण होते हैं जो भक्तों को अत्यन्त प्रिय हैं। कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनके द्वारा व्यक्ति को पुरुषार्थ तथा कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है। और बहुधा यह भी देखने में आता है कि जो ग्रन्थ ज्ञानियों को प्रिय है वह भक्तों को प्रिय नहीं होता, तथा भक्त जिस ग्रन्थ के द्वारा रस प्राप्त करते हैं उसे कर्मयोगी अपना आदर्श नहीं मानते। किन्तु प्रश्न यह है कि रामचरितमानस की रचना ज्ञानियों के लिए की गई है या भक्तों के लिए अथवा कर्मयोगियों के लिए? और गोस्वामी जी इसके लिए एक समन्वय सूत्र देते हुए कहते हैं कि रामचरितमानस तो एक सरोवर है। और जिस प्रकार प्राचीनशैली के सरोवरों में बहुधा चार घाट बनाए जाते थे, उसी प्रकार रामचरितमानस में भी चार घाट हैं, तथा इन चारों घाटों में तीन तो ज्ञान, कर्म और उपासना के हैं किन्तु चौथे घाट के सम्बन्ध में गोस्वामीजी एक बड़ी सुखद कल्पना करते हैं। उन्होंने कहा कि तीन घाट तो मनुष्यों के लिए बनाए जाते हैं, लेकिन आपने देखा होगा कि सरोवर में एक ऐसा भी घाट होता है, जिसमें सीढ़ियाँ नहीं होती हैं। और उसका निर्माण पशुओं के लिए किया जाता है।

गोस्वामीजी ने कहा कि इस रामचरितमानस में एक घाट ऐसा है जिसके माध्यम से ज्ञानी लोग भगवान राम के चरित्र को हृदयङ्गम करें। तथा द्वितीय घाट के द्वारा भक्त लोग भगवान श्री राघवेन्द्र की भक्ति का दिव्य जल ग्रहण करें। और जो पुरुषार्थ सम्पन्न व्यक्ति हैं, वे तृतीय घाट के माध्यम से कर्म का रहस्य समझें। और गोस्वामी इन तीन घाटों पर आचार्य की भी कल्पना करते हैं। उन्होंने कहा कि ज्ञान के घाट पर भगवान शंकर बैठे हुए हैं। भगवान शंकर की दृष्टि से अगर आप रामचरितमानस पर विचार करें तो आपको भगवान के सगुण स्वरूप के साथ-साथ, निर्गुण-निराकार तत्व का भी साक्षात्कार होगा। तथा भक्ति घाट के आचार्य कागभुशुण्डि जी हैं। जो भक्ति की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अध्ययन करता है वह श्री राम के सगुण रूप का साक्षात्कार करके जीवन में धन्यता का अनुभव करता है। और कर्म घाट के आचार्य महर्षि याज्ञवल्क्य, स्मृति के निर्माता हैं, वे भगवान राम के चरित्र के द्वारा हमें स्मृति तथा संविधान के अनुकूल कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। गोस्वामीजी का अभिप्राय है जब सांसारिक सरोवर बनाने वाले भी केवल तीन

ही घाट नहीं बनाते, अपितु चौथे घाट का भी निर्माण करते हैं, तो फिर रामचरितमानस के सरोवर में भी यह चौथा घाट होना अत्यन्त आवश्यक है। तुलसीदासजी ने कहा कि भाई ! मनुष्य तो तीन ही प्रकार के होते हैं ज्ञानी, भक्त और कर्मयोगी, इसीलिए यह तीन घाट तो मनुष्यों के लिए हो गए, किन्तु चतुर्थ घाट तो उन दीन-हीन तथा असमर्थ व्यक्तियों के लिए परमावश्यक है, जिनको आप यदि मनुष्य न मानना चाहें तो पशु ही मान लीजिए। उनका अभिप्राय है कि मनुष्य तो सरोवर के निर्माण में योगदान देता है, उसको स्वच्छ रखने की चेष्टा करता है, तब वह उस सरोवर के जल को ग्रहण करता है, किन्तु पशु जो जल प्राप्त करता है वह केवल सरोवर निर्माता की कृपा अथवा उसकी सहृदयता से ही प्राप्त करता है, अपनी क्षमता से नहीं। इसी प्रकार से ईश्वर की प्राप्ति तो ज्ञानी, भक्ति और कर्मयोगी को तो होनी चाहिए ही किन्तु जो बेचारे ज्ञान, भक्ति तथा कर्म तीनों में असमर्थ हैं उन्हें भी तो ईश्वर को प्राप्त करके जीवन में धन्यता का अनुभव करना चाहिए। इसी भाव को दृष्टिगत रखकर गोस्वामी जी रामचरितमानस में चौथे घाट की भी कल्पना करते हैं।

गोस्वामीजी से पूछा गया कि इस घाट का आचार्य कौन है ? तो उन्होंने कहा कि भई ! यह तो पशुओं वाला घाट है, इस पर तो कोई पशु ही रह सकता है। इसीलिए इस घाट पर मैं (स्वयं तुलसीदास) ही रहूँगा। इस प्रकार रामचरितमानस में ज्ञान भक्ति तथा कर्म के साथ-साथ दीनता का एक चौथा घाट भी जोड़ दिया गया। अपना स्थान गोस्वामीजी इसी घाट पर निश्चित करते हैं। इसलिए उन्होंने कहा कि इस घाट पर आने के लिए किसी को घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। उनका अभिप्राय है कि यदि शंकर जी के घाट पर जाएँगे, तो आपकी परीक्षा लेकर देखी जाएगी कि आप श्रद्धालु हैं अथवा नहीं ? क्योंकि उनकी मुख्य श्रोता तो श्रद्धारूपा पार्वती जी ही हैं। इसका अर्थ है कि श्रद्धायुक्त अन्तःकरण वाला व्यक्ति ही ज्ञान के रहस्य को हृदयङ्गम कर सकता है। बिना श्रद्धा के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। **"श्राद्धावाँल्लभते ज्ञानम्"** कह कर इसी तथ्य की ओर इंगित किया गया है। तथा भक्तिघाट की कथा वही श्रवण कर सकता है जो गरुड़ के समान, भगवान का सेवक है, और जो विचार के अन्तरिक्ष में विचरण करने वाला है। तृतीय घाट पर महर्षि भरद्वाज जैसे मुनि सुनेंगे, जो मननशील हैं। इसका अर्थ है कि राम कथा श्रद्धालुओं के लिए है, विचारकों के लिए है, तथा मननशील व्यक्तियों के लिए है। पर जब गोस्वामीजी से प्रश्न पुछा गया कि आपके घाट की कथा किसके लिए है ? तो उन्होंने उत्तर दिया कि भई मैंने तो अपना केवल एक ही श्रोता बनाया है, और वह श्रोता है **"मेरा**

मन"। पाठक ने फिर पूछा कि महाराज ! आपका मन श्रद्धालु है कि विचारक है अथवा मननशील है, आपके मन की विशेषता क्या है ? वैसे रामचरितमानस की यह परम्परा है कि इसमें प्रत्येक वक्ता अपने-अपने श्रोता की विशेषता अवश्य बतलाता है। जब शंकर जी कथा सुनाने लगे तो उन्होंने पार्वती जी से कहा कि :—

धन्य सती पावन मति तोरी। ७।५४।७

पार्वती तुम्हारी मति (बुद्धि) धन्य है। तथा याज्ञवल्क्यजी महर्षि भरद्वाज की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि मैं जानता हूँ कि आपके अन्तःकरण में कोई भ्रम नहीं है, किन्तु आप तो भगवान श्री राम के गुण जानना चाहते हैं, इसीलिए अज्ञानी व्यक्ति के समान प्रश्न कर रहे हैं।

चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा।
कीन्हिहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा।। १।४६।४

कागभुशुण्डिजी गरुड़ की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि आपके जीवन में न तो संशय है, और न ही मोह तथा न माया का प्रवेश है। आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की, वस्तुतः सत्य तो यह है कि प्रभु ने मोह के बहाने आपको यहाँ भेजकर मुझे बड़प्पन प्रदान किया है :—

तुम्हहि न संसय मोह न माया।
मो पर नाथ कीन्हि तुम दाया।।
पठइ मोह मिस खगपति तोही।
रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही।। ७।६९।४

इस प्रकार प्रत्येक वक्ता के द्वारा अपने श्रोता की प्रशंसा की जा रही है लेकिन गोस्वामीजी ने अपने श्रोता को बार-बार केवल एक ही उपाधि के द्वारा सम्बोधित किया। वे कहते हैं कि :—

सुनु सठ मना। ७।१२९।९

"अरे दुष्ट मन तू सुन", गोस्वामीजी ने कहा कि भाई ! मैं तो दुष्टों को ही कथा सुनाता हूँ। उनका अभिप्राय है कि जिन लोगों को अपने आप में पशुता अथवा असमर्थता की अनुभूति हो रही है, वे लोग दीनता के इस घाट के माध्यम से भगवत्कृपा का मधुर जल ग्रहण करें।

गोस्वामीजी ने दोहावली में एक मधुर चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा कि ईश्वर प्राप्ति की जिज्ञासा को लेकर जब मैं कर्मयोगियों की सभा में गया, और उनसे मैंने प्रश्न किया कि मैं ईश्वर को कैसे प्राप्त कर सकता हूँ ? तब कर्मयोगियों ने मेरे गले में पड़ी हुई माला को देखकर कहा कि यह काठ की माला पहनने वाला कर्म का रहस्य क्या जाने, और उन्होंने मुझे कर्म का स्वरूप नहीं बताया। उसके पश्चात् मैं ज्ञानियों की सभा में गया, तो मेरी

आँखों में आँसू देखकर उन्होंने कहा कि जिसमें इतनी दीनता भरी हुई है, वह व्यक्ति ज्ञान के तत्त्व को हृदयङ्गम नहीं कर सकता। इस प्रकार वहाँ से भी मुझे लौटना पड़ा। किन्तु जब उनसे पूछा गया कि क्या भक्तों ने भी अपने समूह से आपको निकाल दिया तो गोस्वामीजी ने कहा कि भई! भक्त के लक्षणों को जब मैंने अपने जीवन में देखने की चेष्टा की, तो मुझे अपने जीवन में भक्त का एक भी लक्षण दिखाई नहीं दिया, इसलिए भक्तों की सभा में तो मैं गया ही नहीं। जिज्ञासु ने कहा तब तो आप भगवत् प्राप्ति से वंचित रहे होंगे? तो उन्होंने कहा कि नहीं, ऐसा नहीं हुआ, और मैंने श्री राम को प्राप्त कर लिया। वे कहते हैं कि इन तीनों घाटों पर तो व्यक्ति की योग्यता की परीक्षा ली जाती है किन्तु पशु के घाट पर उसकी (पशु की) योग्यता नहीं देखी जाती। गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि ज्ञान, भक्ति और कर्म के द्वारा उपेक्षित होने पर भी मैंने दीनता के मार्ग से भगवान को तुरन्त प्राप्त कर लिया।

करमठ कठमलिया कहैं ज्ञानी ज्ञान बिहीन।
तुलसी त्रिपथ बिहायगो, राम दुआरे दीन॥

दोहावली—९९

जिस तरह इन चारों घाटों के अलग-अलग आचार्य बताए गए हैं, उसी प्रकार से रामचरितमानस के जो पृथक-पृथक पात्र हैं, उसमें कोई ज्ञान प्रधान है, कोई भक्ति प्रधान, कोई कर्म प्रधान है, और किसी में दीनता की प्रधानता ही दिखाई देती है। पर प्रश्न यह है कि श्री हनुमानजी महाराज ज्ञानी हैं कि भक्त हैं, अथवा कर्मयोगी हैं कि दीन? हनुमानजी के द्वारा किसे प्रेरणा प्राप्त होती है? और जब इस दृष्टि से विचार करेंगे तब आपको ऐसा अनुभव होगा कि श्री हनुमानजी ही एक ऐसे पात्र हैं जो ज्ञानी, भक्त और कर्मयोगी आदि सभी व्यक्तियों को कथा सुनाते हैं। और उनके श्रोता भी कितने विलक्षण-विलक्षण पात्र हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि हनुमानजी के श्रोताओं में एक ओर यदि वे सुग्रीव हैं जिनको गोस्वामीजी विनयपत्रिका में "ज्ञान सुग्रीव कृत जलधि सेतू" कहकर ज्ञान का प्रतीक बताते हैं, तो दूसरी ओर "**साक्षात् भक्ति देवी श्री सीता**" हैं:—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥ २।३२१

और अन्त में हनुमानजी भरत तथा शत्रुघ्न जैसे सन्तों को भी कथा सुनाते हैं, जिनके चरित्र की प्रशंसा मानस में "**धर्मसार**" के रूप में की गई है।

समुझब कहब करब तुम्ह जोई।
धरम सारु जग होइहि सोई॥ २।३२२।८

इस प्रकार हनुमानजी ज्ञान, भक्ति तथा कर्म घाट के तो आचार्य हैं ही, परन्तु जब उनसे जानना चाहा कि इस दीन घाट का आचार्य कौन है ? तो हनुमानजी ने कहा कि भई ! पशु घाट का भी आचार्य तो मैं ही हूँ। क्योंकि और सब पात्र तो मनुष्य हैं लेकिन पशु पात्र तो केवल मैं ही हूँ। इसीलिए हनुमानजी बन्दर बनकर आए। इसके द्वारा वे यह बताना चाहते हैं कि ज्ञानी, भक्त अथवा कर्मयोगी को ही भगवान की प्राप्ति का अधिकार नहीं है, अपितु पशु भी ईश्वर को पा सकता है। हनुमानजी की एक विशेषता यह भी है कि वे रावण को भी कथा सुनाते हैं। इस कार्य के द्वारा हनुमानजी ने तुलसीदास जी का समर्थन ही किया है। क्योंकि गोस्वामीजी तो कहते हैं कि मेरा श्रोता तो मेरा मन ही है। और उसकी विशेषता यही है कि वह **''दुष्ट''** है, **''सुनु सठ मना''**। हनुमानजी ने कहा कि अगर दुष्ट को भी कथा सुनानी है तो फिर रावण से बढ़कर दुष्ट कहाँ मिलेगा। और उस श्रोता को भी वे बड़ी ही विनम्रता से कथा सुनाते हैं। यद्यपि नियम तो यह है कि श्रोता तो स्वयं नीचे बैठकर कथा सुनता है, किन्तु वक्ता को ऊँचा आसन देता है पर यहाँ तो रावण सिंहासन पर बैठा हुआ है तथा हनुमानजी सामने खड़े हैं। वक्ता के गले में माला पहनाई जाती है किन्तु यहाँ तो वे नाग पाश में बँधे हुए खड़े हैं। किन्तु हनुमानजी कितने उदार हैं कि इतना अपमान होने पर भी रावण को कथा सुना रहे हैं, और यही श्री हनुमानजी की विनम्रता है। शंकरजी ने तो अत्यन्त कठोर नियम बताते हुए कहा कि पार्वती ! यह कथा दुष्ट व्यक्ति को कभी नही सुनानी चाहिए, और जो मन लगाकर न सुने उसे भी सुनाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

यह न कहिअ सठही हठसीलहि।
जो मन लाइ न सुनु हरि लीलहि॥ ७।१२७।३

किन्तु गोस्वामी जी तो अपने **''दुष्ट''** मन को ही सुनाते हैं। उनका अभिप्राय है कि महाराज ! दुष्ट व्यक्ति यदि कथा नहीं सुनेगा तो वह **''शिष्ट''** कैसे बनेगा ? अपनी दुष्टता को दूर कैसे करेगा, इसलिए कथा-श्रवण का अधिकार दुष्ट को भी तो दीजिए। यही विचार कर श्री हनुमान जी महाराज रावण जैसे दुष्ट तथा अभिमानी व्यक्ति को भी कथा सुनाने की चेष्टा करते हैं। श्री हनुमानजी में एक अनोखापन यह भी है कि वे प्रत्येक मार्ग-अनुगामी व्यक्ति को भगवत्कथा श्रवण कराते हैं। इसलिए जब विभीषणजी ने उनसे पूछ दिया कि **''क्या श्री राम कभी मुझ पर कृपा करेंगे,''** उस समय वे जो उत्तर देते हैं वह दीनघाट के आचार्य का उत्तर है। हनुमानजी ने कहा विभीषण ! मुझे देखने के बाद भी कोई यह प्रश्न कर सकता है, इसकी तो मुझे आशा ही नहीं थी, क्योंकि श्री राम जब एक बन्दर पर अपनी कृपा कर

सकते हैं तो फिर आपके मन में यह संदेह क्यों है, कि ईश्वर मिलेगा अथवा नहीं ? और तब वे अपना परिचय चौथे घाट के आचार्य के रूप में देते हुए कहते हैं कि :—

कहहु कवन मैं परम कुलीना।
कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥ ५।६।७

हनुमान जी ने कहा कि पशुओं में भी सबसे अधिक कामी, क्रोधी और लोभी अगर कोई माना जाता है तो वह बन्दर ही है। कामी के रूप में तो उसकी चेष्टा दृष्टिगोचर होती ही है, और जब वह बालकों तथा स्त्री पुरुषों की ओर आक्रमण के उद्देश्य से दौड़ता है, तब उसके क्रोध की पराकाष्ठा भी हमें दिखाई देती है। तथा उसका लोभ हमें तब दिखाई देता है जब वह कोई वस्तु पा लेता है। वस्तु प्राप्त करने पर सबसे पहले तो जितनी खा सकता है, उतनी खाता है, और जो भाग बच जाता है उसे बगल में दबाकर चल देता है। और श्री हनुमान जी ने पशुओं में भी उसी शरीर को चुना जिसके लिए सुग्रीव जी स्वयं कहते हैं कि :—

मै पाँवर पसु कपि अति कामी॥ ४।२०।३

हनुमान जी का अभिप्राय है कि आप जरा यह तो सोचिए कि मैं कितने दोषों से भरा हुआ हूँ ? और यह विचार कर आप आश्वस्त हो जाइए कि जब प्रभु एक दुर्गुणी बन्दर पर कृपा कर सकते हैं, तो आप पर भी करेंगे।

श्री हनुमान जी के द्वारा जिन लोगों को भगवान की प्राप्ति हुई, उनमें आपको विषयी सुग्रीव जी से लेकर श्री भरत तक दिखाई देंगे। जिनका जन्म साक्षात् भगवान के अंश से हुआ है। तथा जिनको देखकर भ्रम हो जाता है कि कहीं यह साक्षात् श्री राम ही तो नहीं हैं।

भरतु रामही की अनुहारी।
सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥ १।३१०।६

किन्तु श्री भरत तथा सुग्रीव के साथ-साथ वे विभीषण जैसे दीन को भी भगवत् प्राप्ति की प्रेरणा देते हैं। इसीलिए जब विभीषण भगवान की शरण में आए तो उन्होंने बड़ी सुन्दर बात कही। गोस्वामीजी कहते हैं कि भई ! अगर कोई व्यक्ति ज्ञानी, भक्त अथवा कर्मयोगी बनकर ईश्वर के सम्मुख पहुँचता है तो ईश्वर उसकी परीक्षा लेता है। जब कोई व्यक्ति भगवान से यह कहता है कि मैं ज्ञान घाट के माध्यम से आया हूँ तो भगवान उसके ज्ञान की परीक्षा लेते हैं। तथा जब कोई भक्ति का दावा करता है तो प्रभु उसकी भक्ति की परीक्षा लेकर देखते हैं। और यदि कोई व्यवित यह कहे कि मैं तो

कर्मयोगी हूँ, तो उसकी परीक्षा कर्मयोग के द्वारा ली जाती है। किन्तु एक व्यक्ति जब दीनता के इस चौथे घाट के द्वारा भगवान के समीप पहुँचा, तब प्रभु ने उससे पूछ दिया कि तुम ज्ञानी, भक्त अथवा कर्मयोगी में से कौन हो ? उस व्यक्ति ने कहा कि महाराज ! मैं तो इन तीनों में से एक भी नहीं हूँ। भगवान ने फिर कहा भई ! जब तुम तीनों में से कुछ भी नहीं हो तो तुम्हारी परीक्षा कैसे लें ? तब उस दीन भक्त ने कहा कि प्रभु ! जब मैं कुछ हूँ ही नहीं, तब मेरी परीक्षा क्या होगी ? उसने कहा कि मैं परीक्षा देने नहीं अपितु मैं तो आपकी परीक्षा लेने आया हूँ कि आपके विषय में मैंने सन्तों के द्वारा जो कुछ सुना है वह कहाँ तक ठीक है, इसलिए परीक्षा मैं नहीं दूँगा, परीक्षा तो आप देंगे। और विभीषण जी ने भी यही कहा कि प्रभु ! न तो मैं ज्ञानी हूँ, न भक्त तथा न ही कर्मयोगी हूँ। वे कहते हैं कि :—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। ५।४४।७

महाराज ! मैं रावण का भाई हूँ। और जिसने भक्ति देवी को ही कष्ट पहुँचाया है, उसका भाई होने के नाते मैं भक्त नहीं हो सकता। और :—

निसिचर बंस जनम सुरत्राता ।। ५।४४।७

प्रभु ! ज्ञान तो प्रकाश का प्रतीक है और मेरा जन्म निशाचर वंश में हुआ है इसलिए मैं ज्ञानी भी नहीं हो सकता। तथा मैं कर्मयोगी भी नहीं हूँ। क्योंकि :—

सहज पापप्रिय तामस देहा। ५।४४।८

महाराज ! मेरा शरीर तमोगुणी है, इसलिए कर्म नहीं हो सकता। भगवान ने पूछा कि जब तुम न तो ज्ञानी हो, न भक्त हो और न ही कर्मयोगी, तो फिर मेरे पास चले कैसे आए ? और तब विभीषण जी ने हनुमानजी की ओर संकेत करते हुए कहा कि यह तो इनसे पूछिए कि मैं कैसे आ गया ? उनका अभिप्राय था कि आपकी शरण में आने का निमन्त्रण तो यही महोदय मुझे देकर आए हैं। बिना निमन्त्रण के मैं नहीं आया हूँ। उन्होंने कहा कि :— "**श्रवण सुजसु सुनि आयउँ**" मैंने इनके द्वारा आपके विषय में कुछ बातें सुनी हैं, तथा इनकी बातों पर विश्वास करके ही मैं चला आया। किन्तु अब मुझे देखना यह है कि श्री हनुमान जी के द्वारा जो कुछ मैंने सुना है, आपका स्वभाव वैसा ही है कि उससे भिन्न है। प्रभु ! मैं तो आप की ही परीक्षा लेकर देखना चाहता हूँ कि आप कैसे हैं ? और विभीषण जी का वाक्य यही है कि :—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि-त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर ।। ५।४५

और जब विभीषणजी के वाक्य को सुनकर भगवान राम उठकर खड़े हुए, तो गोस्वामीजी से किसी ने पूछ दिया कि महाराज विभीषण को प्रभु

किस मार्ग के माध्यम से शरण में स्वीकार कर रहे हैं, ज्ञान, भक्ति अथवा कर्मयोग में से इनमें कौन सा योग विद्यमान है ? प्रभु को विभीषण की कौन सी बात प्रिय लगी ? तव उन्होंने कहा कि इनका एक गुण भगवान श्री राम को वहुत अच्छा लगा । और उस गुण की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि :—

दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा । ५।४५।२

वे कहते हैं कि विभीषण की दीनता ही देखकर प्रभु उन पर रीझ गए। इसका तात्पर्य है कि दीन-हीन व्यक्ति इस चौथे मार्ग का आश्रय लेकर प्रभु को प्राप्त कर लेता है । उसके पश्चात् जब भगवान श्री राम विभीषणजी को उठाने लगे, तब उनका एक हाथ तो स्वयं प्रभु ने पकड़ा और साथ-साथ लक्ष्मणजी से कहा कि एक हाथ तुम भी पकड़ो । प्रभु का तात्पर्य था कि लक्ष्मण ! तुम तो समस्त ब्रह्माण्ड का भार उठाने वाले हो इसलिए इनका भार भी तुम्हारे ऊपर ही है, और लक्ष्मणजी तथा भगवान श्री राम मिलकर, विभीषण को अपने निकट बैठा लेते हैं ।

दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा ।
भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा ।।
अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी । ५।४५।३

इस प्रकार निशाचर जाति में जन्म लेने वाला विभीषण जैसा व्यक्ति भी भगवान को प्राप्त करके धन्य हो जाता है किन्तु इन सभी व्यक्तियों को भगवत् प्राप्ति कराने वाले पात्र, एक मात्र श्री हनुमानजी ही हैं। और हनुमानजी की भूमिका पर आप जिस सन्दर्भ में विचार करेंगे, उसमें उनका एक भिन्न रूप ही पाएँगे। जब ज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो आपको लगेगा कि श्री हनुमानजी तो मूर्तिमान "**वैराग्य**" हैं । विनयपत्रिका में गोस्वामीजी उनके इसी स्वरूप की ओर संकेत करते हैं ।

"प्रबल बैराग्य दारुण प्रभंजन तनय दुष्ट बल दहन मिव धूमकेतू"

इस प्रसंग में यह प्रश्न किया गया कि श्री राम और श्री सीताजी की प्राप्ति कैसे होगी ? श्रीराम हैं ज्ञान तथा श्री सीताजी हैं मूर्तिमती शान्ति । और हमें इन दोनों की प्राप्ति किसके माध्यम से होगी ? तो विचारकों ने कहा कि भई ! शान्ति की प्राप्ति तो व्यक्ति को त्याग के माध्यम से ही होती है ।

"त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्"

तथा **"ज्ञान किसके द्वारा प्राप्त होता है"**, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मानस में कहा गया है कि :—

"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु ।। ७।८९

बिना वैराग्य के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है । इस प्रकार ज्ञान के सन्दर्भ में उनकी भूमिका वैराग्य की है ।

अगर भक्ति के सन्दर्भ में विचार करें तो श्री हनुमानजी मूर्तिमान "विश्वास" हैं। क्योंकि हनुमानजी भगवान शंकर के अवतार हैं और शंकरजी को मानस में विश्वास का ही प्रतीक माना गया है।

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

इस प्रसङ्ग में भी गोस्वामीजी से पूछा गया कि भक्ति और भगवान की प्राप्ति कैसे होगी ? तो उन्होंने कहा कि एकमात्र विश्वास के द्वारा :—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुं जीव न लह बिश्रामु॥ ७।९०। क

तो भक्ति के सन्दर्भ में हनुमान जी "विश्वास" हैं। और कर्मयोग के सन्दर्भ में विचार करने पर श्री हनुमानजी साक्षात् **"अकर्ता"** के रूप में दिखाई देंगे। अकर्ता उसे कहते हैं कि जो सब कुछ करने के पश्चात् भी अपने को करने वाला नहीं मानता है। इसीलिए हनुमान जी का सम्बन्ध पवन देवता के साथ भी जोड़ा गया है। क्योंकि कर्म के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक पवन देवता ही हैं। अगर कोई कर्मयोग का सच्चा स्वरूप देखना चाहे तो पवन देवता में देखे। व्यक्ति तो चार-पाँच घन्टे में ही कर्म करके थक जाता है, लेकिन पवन देवता ही ऐसे हैं जो चौबीसों घण्टे चल रहे हैं, पर प्रति क्षण चलते हुए भी उनमें कभी थकान नहीं दिखाई देती। और पवन देवता की दूसरी विलक्षणता यह है कि वे कर्तृत्व का अहं नहीं पालते। हम लोग पवन देवता के द्वारा की जाने वाली सेवा का अनुभव तो प्रतिक्षण करते हैं, किन्तु आज तक किसी ने उन्हें देखा नहीं। इसका अभिप्राय है कि अपने कर्तृत्व का प्रदर्शन किए बिना निरन्तर कर्म करते रहना ही पवन देवता का स्वभाव है। इस प्रकार कर्मयोग के सन्दर्भ में श्री हनुमान जी मूर्तिमान **"अकर्तृत्व"** हैं। और यदि विचार किया जाय तो श्री हनुमान जी भगवान राम तथा श्री सीता जी के बालक हैं। इसीलिए जब हनुमान जी ने अशोक वाटिका में श्री सीताजी के दर्शन किए तो, किसी जिज्ञासु ने ज्ञानी, भक्त तथा कर्मयोगियों से प्रश्न किया कि श्री हनुमान जी ने किसको प्राप्त किया ? तो इसका उत्तर देते हुए ज्ञानियों ने कहा कि उन्होंने **"शान्ति"** को पा लिया। भक्त कहते हैं कि वे साक्षात् **"भक्ति देवी"** को ही प्राप्ति कर लेते हैं। तथा कर्मयोगी कहते हैं कि श्री हनुमान जी तो साक्षात् **"महाशक्ति"** को ही प्राप्त करने में सफल हो गए हैं। किन्तु जब यही प्रश्न तुलसीदास जी से किया गया तो वे कहते हैं कि भई ! हनुमान जी ने तो वात्सल्यमयी माँ को ही प्राप्त कर लिया है। इसीलिए तो अशोक वाटिका में जब श्री किशोरी जी ने हनुमान जी से पूछ दिया कि तुम्हारा परिचय क्या है, तुम कौन हो ? तब हनुमान जी ने बड़ा अनोखा परिचय दिया। यद्यपि नियम

यह है कि अपना परिचय देते हुए लोग यह अवश्य बताते हैं कि मैं किसका पुत्र हूँ। भगवान श्री राम ने भी सती जी को इसी रूप में अपना परिचय दिया।

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू।
पिता समेत लीन्ह निज नामू ।। १।५२।७

किन्तु हनुमान जी इस परम्परा का पालन नहीं करते हैं। वे तो श्री सीताजी से कहते हैं कि - **"राम दूत मैं"** (**"मैं प्रभु का दूत तो हूँ"**) लेकिन यहाँ पर तो कुछ और ही बनने आया हूँ। इसीलिए आगे संकेत कर देते हैं कि :—

रामदूत मैं मातु जानकी। ५।१२।९

उनका अभिप्राय था कि दूत तो प्रभु ने मुझे अपना बना लिया था, किन्तु पुत्र तो उन्होंने स्वीकार किया नहीं। और जब तक आप पुत्र कहकर नहीं पुकारेंगी तब तक प्रभु के द्वारा मुझे पुत्र शब्द सुनने को नहीं मिलेगा। इसलिए उन्होंने यह नहीं कहा कि मैं अंजना का बेटा हूँ वे समझ गए कि अगर मैं यह कहूँगा कि मैं अंजना का बेटा हूँ अथवा पवन का पुत्र हूँ तो श्री किशोरीजी अपना बेटा स्वीकार नहीं करेंगी। हनुमानजी का तात्पर्य था कि माता-पिता की ही खोज में तो मैं आपके पास आया हूँ, तो कृपा करके आप स्वीकार कर लीजिए कि मैं आपका बालक हूँ। और तब माँ का वात्सल्य भाव प्राप्त करके श्री सीता जी के द्वारा पुत्र शब्द सुनकर श्री हनुमानजी धन्य हो जाते, हैं इस प्रकार से हनुमान जी की यह चार भूमिकाएँ हैं। तथा इन चारों भूमिकाओं की दृष्टि से उनके कार्यों की गरिमा पर आप विचार कीजिए। सर्व प्रथम सुग्रीव जी के चरित्र को ही लीजिए। सुग्रीव का सबसे बड़ा गुण यह है कि वे अत्यन्त निरभिमानी हैं। तथा इनका सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि भई ! राज्य सम्पत्ति तथा स्त्री आदि सब कुछ छिन जाने के बाद भी इन्होंने हनुमानजी का साथ कभी नहीं छोड़ा। हनुमानजी सर्वदा इनके साथ बने रहे। और सुग्रीव के इसी गुण के कारण उन्हें प्रभु की प्राप्ति हो जाती है। इसका अभिप्राय है कि सब कुछ विनष्ट हो जाने पर भी अगर मनुष्य के जीवन में आस्था और विश्वास बचा हुआ है तो वह व्यक्ति को परमशक्ति, शान्ति तथा ईश्वर की प्राप्ति अवश्य करावेगा।

सुग्रीव के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यद्यपि वे भगवान राम को भी अपनी आँखों के द्वारा तो नहीं पहचान पाए। वे प्रभु को मात्र एक योद्धा समझ बैठे, लेकिन निरभिमानी इतने हैं कि उनको अपनी दृष्टि पर विश्वास नहीं है। इस प्रसङ्ग में एक मुख्य संकेत यह भी है कि यद्यपि बेचारे अपने डरपोक स्वभाव के कारण प्रभु को देखकर अत्यन्त भयभीत हो गए, लेकिन डरने के पश्चात् भी आश्रय किसका लेते हैं ?

अति सभीत कह सुनु हनुमाना ४।०।३

गोस्वामीजी ने कहा कि जब डरे, तब बोले तो हनुमानजी से, और पहुँचे भगवान राम की शरण में। इसका अभिप्राय है कि जिस भय के द्वारा सन्त और भगवान की प्राप्ति हो वह तो बड़ा सार्थक भय है। तथा दूसरी ओर सुग्रीव को यह विश्वास था कि हनुमानजी अत्यन्त पैनी दृष्टि वाले हैं। यह सही-सही पहचान करके बता सकते हैं कि यह कौन हैं ? और जो यह कहेंगे, मैं उसी को मान लूँगा। इसका अर्थ है कि आँखें विवेक की प्रतीक हैं। और जब हम आँखों से किसी वस्तु को देखते हैं तब हम बड़े गर्व से यह दावा करते हैं कि **"इस वस्तु को तो मैंने अपनी आँखों से देखा है"**। रामचरितमानस में भी यही संकेत किया गया है :—

यह सब मैं निज नयनन्हि देखी ।। ७।९०।२

कागभुशुण्डिजी कहते हैं कि, यह सब मैंने अपने नेत्रों से देखा। और भई ! आपके नेत्र यदि ठीक हैं तो आप देखे हुए पर अवश्य विश्वास कीजिए। किन्तु यदि आपके पास नेत्र नहीं हैं तो ? और बहुधा देखा यह जाता है कि जिन लोगों के पास आँखें नहीं हैं, उनके कान बड़े तेज होते हैं। और भई ! नेत्र यदि विवेक का प्रतीक हैं, तो कान विश्वास का। इसका अभिप्राय है कि अगर हम अपनी आँखों से भगवान को न भी देख सकें तो कम से कम दूसरों की वाणी सुनकर ही भगवान के प्रति विश्वास करें। किन्तु दुर्भाग्य तो रावण जैसे व्यक्तियों का है कि जिनके जीवन में न तो विवेक की सार्थकता है, और न ही विश्वास की। यदि विवेक होता, तो वह भगवान को पहचान जाता और यदि विश्वास होता तो श्री हनुमानजी, मन्दोदरी, तथा विभीषण के द्वारा समझाने पर श्री राम के स्वरूप पर विश्वास कर लेता। किन्तु रावण न देख पाता है, और न सुन पाता है। इसीलिए अङ्गदजी रावण से कहते हैं कि तुम तो बीस आँख वाले अंधे तथा बीस कान वाले बहरे हो :—

अंधउ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस। ६।२१

परन्तु सुग्रीव की विशेषता यह है कि यद्यपि उनके पास केवल दो ही आँखें थी, लेकिन उन आँखों में क्या दोष हैं, इसका भान उन्हें भली प्रकार से है। यद्यपि श्री राम को न पहचान पाने का कारण यह था कि यदि व्यक्ति अपनी आँख पर रंगीन चश्मा चढ़ा ले, तो उसे सामने प्रत्येक वस्तु उसी रंग की दिखाई देगी, जिस रंगका चश्मा वह लगाए हुए है। इसी प्रकार से सुग्रीव के मन में भी बालि का भय इतना समा गया था कि प्रत्येक वस्तु में इन्हें बालि ही दिखाई देता था, और इसी दोष के कारण वे प्रभु को भी शत्रु ही समझ रहे हैं। परन्तु हनुमानजी के प्रति अगर इनके अन्तःकरण में विश्वास न होता, हनुमानजी की आँखों पर भरोसा न होता, तो क्या इन्हें

ईश्वर की प्राप्ति कभी हो सकती थी ? किन्तु सुग्रीवजी को तो हनुमानजी के नेत्रों पर सर्वाधिक विश्वास था। उन्होंने हनुमानजी से कहा कि आप जो कहेंगे मैं वही प्रामाणिक मानूँगा। अगर आप कहेंगे कि यह मित्र हैं तो मैं इनके प्रति मित्रता का भाव स्थापित करूँगा। और यदि आप कहेंगे कि, शत्रु हैं, तो इन्हें मैं शत्रु की दृष्टि से देखूँगा। सुग्रीव को हनुमान पर इतना विश्वास था तथा इसी विश्वास का लाभ भगवान राम ने लिया।

जब विभीषणजी प्रभु की शरण में आए, तब सुग्रीवजी ने भगवान राम को सूचना देते हुए कहा कि :—

आवा मिलन दसानन भाई। ५।४२।४

महाराज ! रावण का भाई आपसे मिलने आया है। इस वाक्य को सुनकर भगवान राम ने तो बड़े भोलेपन से कह दिया कि :—

कह प्रभु सखा बूझिए काहा। ५।४२।३

प्रभु ने कहा मित्र ! अगर कोई आया है तो उसे तुरन्त ले आओ, इसमें पूछने की क्या बात है ? तो सुग्रीव ने कहा, महाराज ! आप तो बिल्कुल राजनीति से रहित बात कर रहें हैं, क्योंकि राजनीति में प्रत्येक व्यक्ति पर इतनी सरलता से विश्वास नहीं किया जाता। पहले परख कर देख लिया जाता है। किन्तु आप तो बिना परख किए ही उस पर विश्वास कर रहे हैं। पहले खोटे-खरे की परीक्षा तो ले लीजिए। क्योंकि मुझे तो लगता है कि यह नकली वेश बना कर हमारा भेद लेने के लिए आया है। यह दुष्ट व्यक्ति है, इसलिए इसको बाँध कर रख लेना चाहिए।

जानि न जाइ निसाचर माया।
कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा।
राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥ ५।४२।६

इस सम्मति को सुनकर भगवान राम सुग्रीव से पूछ सकते हैं कि मित्र ! क्या तुमको मेरी आँखों पर भरोसा नहीं है ? तो सुग्रीवजी ने कहा कि जब आपने यह कह दिया कि जो आता है, उसे ले आओ, तब मैं समझ गया कि आपके नेत्रों में अच्छे-बुरे को परखने की शक्ति नहीं है। गोस्वामीजी भी प्रभु से कहते हैं कि महाराज ! मैं तो यही सुनकर आपकी शरण में आया हूँ कि **"आपमें खोटे और खरे की परख नहीं है"** तो प्रभु ने पूछ दिया कि यह कहकर तुम मेरी निन्दा कर रहे हो अथवा प्रशंसा ? गोस्वामीजी ने कहा कि प्रभु ! चतुर लोग तो आपके इस स्वभाव की आलोचना कर सकते हैं, पर मैं तो प्रशंसा ही करूँगा। क्योंकि जिसको खोटा सिक्का चलाना है, उसे तो ऐसे व्यक्ति की खोज रहती है जो खोटे-खरे कि परख न कर सके। और मुझ

जैसा खोटा व्यक्ति तो आपके पास तभी तक रह सकता है, जब तक आपमें परखने की शक्ति नहीं है। तथा लक्ष्मणजी तो चित्रकूट में ही यह घोषणा कर चुके हैं कि आपकी परख अच्छी नहीं है।

नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीत जियँ जानिअ आपु समान॥ २।२२७

उन्होंने कहा महाराज ! आपकी आँखें ही ऐसी बनी हैं कि जिसको आप देखते हैं उसको अपने समान ही समझते हैं। और आज सुग्रीवजी ने भगवान के चरणों में प्रणाम करके कहा कि प्रभु ! मैं आपके समस्त आदेशों को मानूँगा, पर आपके नेत्रों पर विश्वास नहीं करूँगा। क्योंकि एक भेदिए को आपने शरणागति का पात्र मान लिया। और जब भगवान राम यह समझ गए कि मेरा और सुग्रीव का मतभेद तो बहुत अधिक बढ़ चुका है तथा इसको मिटाने का उपाय तो केवल एक ही है। और तब प्रभु हनुमानजी की ओर देखकर खूब हँसे तथा विभीषण की प्रशंसा करने लगे। गीतावली में गोस्वामीजी ने इसका संकेत किया है।

हिय बिहँसि कहत हनुमान सों।
सुमति साधु सुचि सुहृद विभीषन बूझि परत अनुमान सों॥
गीतावली—५।३३

इस हँसी के द्वारा श्रीराम मानो सुग्रीव पर एक मीठा व्यंग्य कर रहे हैं। भगवान राम का तात्पर्य था कि मित्र ! तुम्हें मेरी आँखों पर विश्वास नहीं है और मुझे तुम्हारी दृष्टि पर विश्वास नहीं है। क्योंकि तुमने भी पहली बार मुझे बालि का भेजा हुआ भेदिया ही समझा था। किन्तु हनुमानजी ही एक ऐसे पात्र हैं कि जो हम दोनों के मध्य समझौते के केन्द्र बन सकते हैं। क्योंकि तुम्हें भी हनुमानजी की आँखों पर विश्वास है, और मुझे भी उन्हीं के नेत्रों पर पूर्ण विश्वास है, इसलिए क्यों न हम दोनों हनुमानजी से ही निर्णय करा लें।

प्रभु की हँसी का दूसरा तात्पर्य यह था कि अभी-अभी सुग्रीव ने कहा था कि यह "**दुष्ट**" है, और "**भेद**" लेने के उद्देश्य से आया है।

भेद हमार लेन सठ आवा।५।४२।७

भगवान ने मन ही मन हँस करके कहा कि हनुमान ! यह दोनों शब्द तो परस्पर विरोधी हैं, क्योंकि जो सठ होगा वह मेरा भेद लेने नहीं आएगा, और जो मेरा भेद लेने आएगा वह सठ नहीं हो सकता। प्रभु ने कहा मित्र ! संसार में तो लोग भेद लेने वाले को बुरा मानते हैं, लेकिन मैं तो संसार में इसीलिए आया हूँ कि जिससे लोग मेरा भेद जान तो लें। और सचमुच जिसने भगवान का भेद जान लिया, वह तो धन्य हो गया। प्रभु का अभिप्राय था कि अगर कोई मेरा भेद प्राप्त करने आता है तो उसको दुष्ट नहीं कहना चाहिए।

जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई।
मोरें सनमुख आव कि सोई ।। ५।४३।४

और इस हँसी में भगवान राम ने हनुमानजी की भी एक प्रकार से मीठी चुटकी ली। प्रभु ने कहा हनुमान ! यदि सुग्रीव के आरोप को सत्य मान लिया जाय कि यह व्यक्ति वेष बदल कर भेद लेने के लिए आया है, तब तो और भी अधिक प्रसन्नता की बात है। भगवान राम का अभिप्राय था कि हनुमान पहली बार तुम भी तो वेष बदलकर मेरा भेद लेने के उद्देश्य से ही तो मेरे पास आए थे। किन्तु एक भेदिए के रूप में जब तुम जैसा सेवक मुझे मिला तो लगता है, आज भी तुम्हारी ही तरह दूसरा सेवक प्राप्त होने वाला है। इसलिए प्रभु ने कहा कि हनुमान तुम यदि समर्थन कर दो तो मेरी समस्या का समाधान हो जाएगा। तथा सबसे विलक्षण बात यह है कि भगवान राम की बात का तो सुग्रीव ने विरोध किया, लेकिन ज्योंही हनुमानजी ने प्रभु की बात का समर्थन करते हुए कहा कि :—

सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।
सरनागत बच्छल भगवाना ।। ५।४२।९

हनुमानजी के इस वाक्य को सुनकर फिर सुग्रीवजी विभीषणजी का एक बार भी विरोध नहीं करते हैं। क्योंकि सुग्रीव को यह विश्वास था कि मुझे तो भ्रम हो सकता है पर हनुमानजी को कभी भ्रम नहीं होगा। उन्हें भगवान के नेत्रों पर तो थोड़ा सा सन्देह था, पर विश्वासावतार हनुमानजी पर नहीं।

गोस्वामीजी किष्किन्धा काण्ड में यह संकेत करते हैं कि सुग्रीव ने दो बार भगवान राम को देखा, किन्तु दोनों बार अलग-अलग प्रभाव पड़ा। जब पहली बार देखा तो बेचारे डर के मारे काँपने लगे।

आवत देखि अतुल बल सींवा। ४।०।२
अति सभीत कह सुनु हनुमाना। ४।०।३

किन्तु जब हनुमान जी के साथ देखा, तब उन्हें लगा कि आज मेरा जन्म धन्य हो गया।

जब सुग्रीवँ राम कहुं देखा।
अतिसय जन्म धन्य करि लेखा ।। ४।३।६

गोस्वामीजी से प्रश्न किया गया कि जिन भगवान को देखकर सुग्रीव भय के मारे काँप रहे थे, उन्हीं को देखकर उन्हें धन्यता की अनुभूति कैसे हो रही है ? गोस्वामीजी ने कहा कि भई ! जब श्री राम और लक्ष्मण, हनुमानजी की पीठ पर सवार नहीं थे, तब तक तो डर था, पर जब हनुमान जी की पीठ पर सवार प्रभु को देख लिया तो भय समाप्त हो गया। इसका अभिप्राय है कि यदि हम विश्वास से रहित ईश्वर को देखेंगे, तो ईश्वर भी हमें डरावना

लगेगा, किन्तु जब विश्वास पर आधारित ईश्वर का दर्शन करेंगे तो हमारे जीवन में धन्यता आ जाएगी। और सुग्रीव के समीप श्री राम को ले जाने के उद्देश्य से हनुमानजी ने प्रार्थना करते हुए प्रभु से कहा कि आप मेरी पीठ पर बैठ जाइए।

एहि बिधि सकल कथा समुझाई।
लिए दुऔ जन पीठ चढ़ाई ।। ४।३।५

प्रार्थना सुनकर भगवान राम ने प्रश्न किया कि हनुमान ! एक ओर तो तुम मुझे ईश्वर मान रहे हो, तथा दूसरी ओर अपनी पीठ पर उठाने का साहस भी कर रहे हो, यह तो बड़ी विचित्र सी बात लग रही है। तो हनुमान जी ने कहा, प्रभु ! वैसे तो मैं इस प्रकार का साहस न करता, पर अभी आपने जो परिचय दिया अपना, उससे मेरा साहस बढ़ गया है। भगवान राम ने हनुमान जी से कहा था कि मेरा परिचय तो केवल इतना सा है कि :—

कोसलेस दसरथ के जाए। ४।१।१

मैं तो अयोध्या के राजा दशरथ का पुत्र हूँ। हनुमान जी बोले कि महाराज ! मैं तो यही समझता था कि आप तो साक्षात् ईश्वर हैं, सबके कारण (जन्म देने वाले) आप हैं। पर ज्यों ही आपने कहा कि **"मैं तो दशरथ का बेटा हूँ"** तो मुझे लगा कि जब आपने दशरथ जी के यहाँ पुत्र रूप में जन्म लिया तो उन्होंने आपको अपनी गोद में अवश्य उठाया होगा, और प्रभु ! तब मैंने सोचा कि जब दशरथ जी आपको उठा सकते हैं तो मैं भी उठा सकता हूँ।

प्रभु ने पुनः प्रश्न कर दिया कि दशरथ जी ने तो मुझे गोद में बैठाया था, लेकिन तुम पीठ पर क्यों बैठा रहे हो ? हनुमान जी बोले कि प्रभु ! गोद में बैठाने तथा पीठ पर उठाने वाले में जो अन्तर है, वही मुझमें और दशरथ जी में भी है। उन्होंने कहा महाराज ! नियम यह है कि गोद में लेने वाला ही गोद में बैठे हुए को पकड़ता है, किन्तु पीठ पर बैठने का उल्टा नियम यह है कि जो पीठ पर बैठता है, वही उठाने वाले को पकड़े रहता है। हनुमान जी का अभिप्राय था कि दशरथ जी समर्थ थे, वे आपको पकड़ सकते थे, पर मैं तो असमर्थ हूँ अतः मैं तो यही चाहता हूँ कि आप ही मुझे पकड़े रहें। इसलिए मैं तो आपको पीठ पर ही बैठाऊँगा। क्योंकि आप जब पीठ पर बैठेंगे तो मुझे पकड़े तो रहेंगे ही। हनुमान जी ने इस कार्य के द्वारा मानो सुग्रीव को सूचना दे दी कि घबड़ाइए नहीं, जीव को अपनी ओर से पकड़ लेने वाला ईश्वर आज मिल गया है। इस प्रकार विश्वास के माध्यम से सुग्रीव का ईश्वर से मिलन हुआ। उस मिलन के पश्चात् भक्तिदेवी की खोज किस प्रकार होती है ? इसकी चर्चा हम कल करेंगे।

बोलिए सियाबर रामचन्द्र की जय।

श्री रामः शरणं मम

सप्तम प्रवचन

जनकसुता कइ सुधि भामिनी ।
जानहि कहु करिवर गामिनी ॥
पंपा सरहि जाहु रघुराई ।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा ।
जानतहू पूछहु मतिधीरा ॥
बार-बार प्रभु पद सिरु नाई ।
प्रेम सहित सब कथा सुनाई ॥

कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदयँ पद पंकज धरे ।
तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ॥
नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू ।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू ॥
जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्ह असि नारि ।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि ॥ ३।३६

आइए, अब कुछ समय के लिए एकाग्र तथा शान्त चित्त से भक्तिमती शबरी ने भगवान श्री राघवेन्द्र की जिज्ञासा के उत्तर में विदेहनन्दिनी के अन्वेषण का जो सूत्र प्रस्तुत किया, इस पर हम विचार करें।

भगवान श्री राम की जिज्ञासा थी कि श्री सीताजी को पुनः प्राप्त करने का क्या उपाय है ? इसके उत्तर में शबरीजी ने यह कहा कि आप पम्पासर की यात्रा करें, वहाँ सुग्रीव से आपकी मित्रता होगी। उसके पश्चात् जनकनन्दिनी की प्राप्ति की भूमिका बनेगी। प्रभु उनकी इस बात को स्वीकार

करके ऋष्यमूक पर्वत की ओर जाते हैं। वहाँ पर श्री हनुमानजी के माध्यम से भगवान श्री राम तथा सुग्रीव की मित्रता सम्पन्न होती है। आगे चलकर जब श्री हनुमानजी लंका की ओर प्रस्थान करते हैं, तब उनके मार्ग में अनेक विघ्न आते हैं, किन्तु वे उन समस्त विघ्नों को पार करने के पश्चात् अन्त में श्री सीताजी का दर्शन करके अपने जीवन में धन्यता का अनुभव करते हैं।

इस प्रसङ्ग के माध्यम से गोस्वामीजी ने भक्ति देवी के अन्वेषण के मार्ग में आने वाले विघ्नों का बड़ा ही सारगर्भित वर्णन किया है, लेकिन यह विघ्न केवल बाहर ही नहीं है अपितु स्वयं व्यक्ति के अन्तःकरण में भी विद्यमान है। और इसी का संकेत हमें सुग्रीव के चरित्र में दिखाई देता है। बालि के द्वारा संत्रस्त सुग्रीव को भगवान श्री राघवेन्द्र, शरण में स्वीकार करते हैं तथा बालि का वध करके वे उन्हें किष्किन्धा का राजा बनाते हैं। राज्यपद पर अभिषिक्त करने के पश्चात् भगवान श्री राम ने सुग्रीवजी को दो सूत्र दिए, और उन्हीं सूत्रों में वस्तुतः व्यवहार तथा परमार्थ का सन्तुलित दर्शन विद्यमान है। प्रभु ने सुग्रीव से कहा कि किष्किन्धा का राजा होने के नाते आपका यह कर्तव्य है कि आप राज्य चलावें, पर मेरा यह आदेश है कि **"किष्किन्धा का राज्य आप अंगद के सहयोग से चलावें"** तथा उसके साथ-साथ प्रभु ने दूसरा वाक्य यह कहा कि अङ्गद के सहयोग से राज्य कार्य चलाते हुए भी, अपने हृदय में आप प्रतिक्षण इस बात का ध्यान रखिएगा कि **"श्री सीताजी का पता भी लगाना है"**।

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू।
सन्तत हृदय धरेहु मम काजू।। ४।११।९

भगवान श्रीराम का यह वाक्य केवल सुग्रीव के सन्दर्भ में ही सत्य नहीं है बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का सत्य है। किन्तु भगवान श्री राघवेन्द्र के द्वारा सुग्रीव को मित्र बनाने का अभिप्राय क्या है? वस्तुतः इस प्रश्न पर यदि गम्भीरता से विचार करें तो ऐसा लगता है कि केवल सुग्रीव ही प्रभु भगवान के मित्र नहीं है, बल्कि उपनिषद कहते हैं कि जीव और ब्रह्म तो नित्य सखा हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्व जाते।

इस प्रकार संसार का प्रत्येक जीव ही भगवान का सखा है। और सुग्रीव को मित्र बनाने का अभिप्राय है कि जब कोई व्यक्ति भगवान की शरण ग्रहण करता है, तब प्रभु उसे निर्भय बना देते हैं। उसको समस्याओं से मुक्त कर देते हैं, पर मुक्त करते हुए भी भगवान श्री राम जीव को व्यवहार तथा परमार्थ का अद्‌भुत समन्वय सूत्र देते हैं, क्योंकि व्यक्ति के जीवन में एक ओर व्यवहार है तथा दूसरी ओर परमार्थ। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या व्यक्ति

अपने जीवन में परमार्थ की प्राप्ति के लिए व्यवहार का परित्याग कर दे अथवा व्यवहार की समस्याओं का समाधान पाने के लिए परमार्थ की उपेक्षा करे ? इसे हम बोल-चाल की भाषा में यों कह सकते हैं कि **'व्यक्ति राम काज करे कि काम काज"** ? और भगवान श्री राघवेन्द्र इस प्रश्न का सांकेतिक उत्तर देते हुए सुग्रीव से कहते हैं कि काम-काज छोड़ देने के लिए मैं नहीं कहता, क्योंकि राज्य चलाना तुम्हारा कर्तव्य है, परन्तु उस कर्तव्य कर्म का पालन करते हुए तुम्हारे हृदय में एक क्षण के लिए भी इस सत्य की विस्मृति नहीं होनी चाहिए कि मुझे सीताजी का पता लगाना है। प्रभु का अभिप्राय है कि समस्त व्यवहार का पालन करते हुए भी व्यक्ति का ध्येय यह बना रहे हैं कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य भक्ति रूपा श्री सीताजी को प्राप्त करना है। जब तक हमारे जीवन में शान्तिरूपा श्री सीताजी की उपलब्धि नहीं होगी, तब तक जीवन में पूर्णता नहीं आ सकती। इस प्रकार काम-काज और राम-काज में सन्तुलन स्थापित करने के लिए ही प्रभु ने सुग्रीव के बहाने समस्त जीवों को आदेश दिया कि आपलोग व्यवहार चलाते हुए भी परमार्थ की विस्मृति न करें।

प्रारम्भ में व्यवहार की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। प्रभु के द्वारा सुग्रीव को राज्य संचालन का आदेश देने के प्रसङ्ग में आप एक अनोखापन देखेंगे कि भगवान श्री राघवेन्द्र ने यह तो कहा कि आप किष्किन्धा का राज्य करें, **"पर अकेले नहीं अपितु अंगद का सहयोग लेते हुए राज्य का संचालन करो"**। वस्तुतः प्रभु ने इस वाक्य के द्वारा समाज तथा व्यक्ति के जीवन में उत्पन्न होने वाली शाश्वत् समस्या का समाधान दे दिया। भगवान श्री राम का अभिप्राय है कि **"समाज में होने वाले संघर्ष के मूल में भेद बुद्धि ही है"**। भेद बुद्धि का तात्पर्य है, अपनों के प्रति पक्षपात तथा दूसरों के प्रति उपेक्षा अथवा घृणा की वृत्ति। आपको जहाँ कहीं टकराहट या द्वेष दिखाई दे, वहाँ पर यह भेद बुद्धि अवश्य ही कार्य कर रही होगी। सुग्रीव तथा बालि के संघर्ष के मूल में भी भेद बुद्धि विद्यमान है। स्वयं सुग्रीव जी ने अपना जो संस्मरण भगवान राम को सुनाया, उसमें वे यह स्वीकार करते हैं कि :—

नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाई।
प्रीति रही कछु बरनि न जाई।। ४।५।१

महाराज ! मैं और बालि दोनों सगे भाई थे, तथा बाल्यावस्था में हम दोनों में इतना अधिक प्रेम था कि जिसको देखकर लोगों को यह अनुभव होता था कि ऐसा आदर्श प्रेम संसार में और कहीं दिखाई नहीं देगा। किन्तु प्रश्न यह है कि जहाँ इतना अवर्णनीय प्रेम सम्बन्ध था, वहाँ टकराहट उत्पन्न कैसे हो गई ? उन दोनों भाइयों के संघर्ष के प्रारम्भ में वर्णन आता है कि मायावी

से संघर्ष करने के लिए जब वालि अर्ध रात्रि के समय जाता है तब भ्रातृ प्रेम के कारण सुग्रीव भी उसके पीछे जाते हैं। किन्तु सुग्रीव को बालि ने गुफा के द्वार पर रहने का आदेश देते हुए कहा कि यदि पन्द्रह दिन के अन्दर लौटकर मैं न आऊँ तो समझ लेना कि मैं निश्चित रूप से मारा गया। यदि विचार करके देखें तो बालि के इस कार्य में अहंकार तथा प्रदर्शन की वृत्ति ही परिलक्षित होती है। उसे यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी कि मैं पन्द्रह दिन में विजय प्राप्त करके लौट आऊँगा। इसका अभिप्राय है कि वह अपनी शक्ति के मद में शत्रु की शक्ति का अनुमान सही रूप में नहीं लगा पाता है। यदि हम इसके आध्यात्मिक पक्ष की ओर दृष्टि डालें, तो हमें इसका एक भिन्न रूप ही दिखाई देगा। गोस्वामी जी के समक्ष किसी ने जिज्ञासा प्रगट की कि यह मायावी कौन है? तो उन्होंने कहा कि यह मय दानव का पुत्र है।

मय सुत मायावी तेहि नाऊँ। ४।५।२

विनय पत्रिका में तुलसीदास जी ने कहा कि "**प्रत्येक व्यक्ति का मन ही मय दानव है।**"

रचित मन दनुज मय रूप धारी। विनय पत्रिका ५८।२

इस प्रकार मय दानव प्रत्येक व्यक्ति के अन्त:करण में विद्यमान है। तथा बालि को जिसने चुनौती दी, वह मय का बेटा मायावी था। इसका अर्थ यह हुआ कि मन में उत्पन्न होने वाला संकल्प ही वस्तुत: मायावी है और यह संकल्प बालि को चुनौती दे रहा है। किन्तु बालि को अपने पुण्यात्मापन पर गर्व है। वह सोचता है कि मैं तो मन के संकल्प-विकल्पों पर अधिकार करने में समर्थ हूँ। क्योंकि मैं तो वह व्यक्ति हूँ जिसने रावण (मोह) को पराजित किया है। और जिसने मोह को परास्त करने में सफलता प्राप्त कर ली, उसके लिए मन के संकल्प-विकल्पों को जीतने में क्या कठिनाई है? लेकिन यहीं पर बालि थोड़ी सी भूल कर बैठता है। वह तो यह मानकर चलता है कि मायावी अकेला है, और इसे मैं पन्द्रह दिन के अन्दर मार दूँगा। लेकिन गुफा के भीतर तो मायावी के न जाने कितने सहायक विद्यमान थे। और जब मायावी के सहयोगियों से बालि लड़ने लगा, तब उसकी सारी कल्पना झूठी हो गई। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार मायावी के अनेक बन्धु-बान्धव थे इसी तरह मनुष्य के संकल्प के भी अनेक भाई-बन्धु (सहायक) हैं। यही सत्य हमारे और आपके जीवन में भी दिखाई देता है कि साधक जिस समय एक संकल्प को वशीभूत करने की चेष्टा करता है, उसी समय दूसरा संकल्प उत्पन्न हो जाता है, और दूसरे को बस में करने के पूर्व ही तीसरा संकल्प आ जाता है। इसका अभिप्राय है कि संकल्प-विकल्पों को परास्त कर पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी प्रकार मनुष्य के मन में यदि एक

प्रलोभन उत्पन्न हुआ, और व्यक्ति यह सोच ले कि मैं इस प्रलोभन को इतने समय में जीत लूँगा, तो यह उसकी भ्रान्ति है। क्योंकि जब तक वह एक प्रलोभन को जीतेगा तब तक दूसरा प्रलोभन आ जाएगा। इसलिए व्यक्ति को यह दावा नहीं करना चाहिए कि मैं संकल्प-विकल्प पर इतने दिनों में विजय प्राप्त कर लूँगा। तथा भगवान श्री कृष्ण भी गीता में इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। अर्जुन ने जिज्ञासा प्रगट करते हुए कहा कि महाराज! मनुष्य यदि जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए अभ्यास तथा साधना करे तो वह कितने दिनों के अन्दर जीवन में परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है, इसके समय की सीमा कौन सी है? और भगवान तो सर्वज्ञ हैं। वे अर्जुन से कह सकते थे कि भाई? इतने दिन, इतने महीने, अथवा इतने वर्षों तक साधना करने पर व्यक्ति जीवन में परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है, किन्तु भगवान ने समय की कोई सीमा नहीं बताई, अपितु उन्होंने अर्जुन से यही कहा कि :—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्॥

भगवान ने कहा कि अर्जुन! इसके समय की कोई सीमा नहीं है, इसलिए यही कहना अधिक उपयुक्त है कि लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हम अपनी ओर से चेष्टा करेंगे। अपनी ओर से दुर्गुण-दुर्विचारों को समाप्त करने का प्रयत्न करेंगे, पर समग्र सफलता कब तक प्राप्त होगी इस सम्बन्ध में दावा करना तो धृष्टता है। पर बालि अपने अहंकार के कारण यह धृष्टता करता है, तथा उसके दावे के कारण ही एक भ्रान्ति और भी उत्पन्न हो जाती है।

बालि ने सुग्रीव से तो यही कहा था कि पन्द्रह दिन तक मेरी प्रतीक्षा करना, पर सुग्रीव वहाँ पर एक माह तक प्रतीक्षा करते रहे। उन्होंने विचार किया कि शायद बालि का गणित झूठा हो गया हो, और कुछ अधिक दिन के बाद वह विजेता बनकर लौटे। लेकिन एक माह व्यतीत हो जाने के पश्चात् दैत्यों के रक्त की धारा गुफा के बाहर निकली, किन्तु सुग्रीव के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि इस रक्त को देखकर कैसे निर्णय किया जाए कि यह बालि का रक्त है अथवा दैत्य का? तब सुग्रीव ने यही गणित किया कि बालि ने तो कह ही दिया था कि पन्द्रह दिन में यदि मैं न आऊँ तो समझ लेना कि मैं मारा गया।

परिखेसु मोहि एक पखवारा।
नहिं आवौं तब जानेसु मारा॥ ४।५।६

इसलिए लगता है कि यह बालि का ही रक्त बहकर बाहर आ रहा है। तब उन्होंने निश्चय किया कि मैं इन मायावी राक्षसों को मारने में समर्थ नहीं

हूँ। और सुग्रीव में यह एक विशेष सद्‌गुण है कि उनको अपनी सामर्थ्य की सीमाओं का ज्ञान है। वे बालि के समान मिथ्या घोषणा करने वालों में नहीं हैं। और सचमुच अपनी सीमाओं को जान लेना भी बहुत बड़ी बात है।

गोस्वामीजी भी भगवान के समक्ष अपनी सीमा को बता देते हैं। उन्होंने कहा कि महाराज! मैंने अपनी ओर से मन को वस में करने की चेष्टा की, लेकिन प्रयत्न करने के पश्चात् यह मैं भली भाँति समझ गया कि मुझमें यह क्षमता नहीं है कि मैं अन्तःकरण के दुर्गुणों पर पूरी तरह से विजय प्राप्त कर सकूँ वे भगवान के सामने अपने अन्तर्मन की दुर्बलता को स्वीकार करते हुए प्रभु से निवेदन करते हैं कि :—

मेरा मन हरि जू हठ न तजै। बिनयपत्रिका ८९

उन्होंने कहा कि प्रभु! मेरा मन अपना हठ नहीं छोड़ता है। भगवान ने पूछा कि क्या तुमने चेष्टा करके देखा? तो वे बोले, महाराज!

निसिदिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाउ निजै ॥
ज्यों जुबती अनुभवति प्रसव अति दारुण दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै ॥
लोलुप भ्रम ग्रह पसु ज्यों जहँ तहँ सिर पद त्राण बजै।
तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै ॥

भगवान ने कहा तुलसीदास! मुझसे किस आशा से कह रहे हो, तो गोस्वामीजी ने एक सूत्र दे दिया तथा वही सूत्र भक्त लोग भी अपने जीवन में स्वीकार करते हैं। गोस्वामीजी ने कहा कि प्रभु! मैं तो हर प्रकार से प्रयत्न करके हार गया, और अब मैं यह अच्छी तरह समझ गया कि मन के दुर्गुण-दुर्विचारों तथा संकल्प-विकल्पों को मैं अपनी सामर्थ्य के द्वारा पराजित नहीं कर सकता।

हौं हार्‌यों करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै।

किन्तु इस मन को बस में करने का तो एक मात्र उपाय यही है कि :—

तुलसीदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥

गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि जैसे नचाने वाले के संकेत पर ही कठ-पुतली नृत्य करती है। उसी प्रकार से जीव के अन्तर्मन में संकल्प-विकल्प भी वस्तुतः आपकी प्रेरणा से ही तो शक्ति प्राप्त करते हैं। इसलिए प्रभु! मन के दुर्गुण-दुर्विचारों के प्रेरक के रूप में यदि आप ही इनको रोकने की कृपा करेंगे तभी यह दूर होंगे। किन्तु हम अपनी क्षमता के द्वारा इन्हें परास्त करने में समर्थ नहीं हैं।

असमर्थता की यही स्वीकृति हमें सुग्रीव के जीवन में भी दिखाई देती है। वे यह समझ गए कि मैं मायावी का वध नहीं कर सकता, यह सोचकर वे

किष्किन्धा लौट आते हैं। और जब सुग्रीव लौट कर आए तब मन्त्रियों को ऐसा लगा कि अभी तक तो बालि ने राज्य का सञ्चालन किया। किन्तु बालि की मृत्यु हो गई है, इसलिए राज्य सञ्चालन का कार्य सुग्रीव को सौंप दिया, क्योंकि राज्य व्यवस्था तो विना राजा के चल नहीं सकती है, और तब सुग्रीव को सिंहासन पर बैठाया गया। सुग्रीव ने अपनी आत्म कथा सुनाते हुए कहा कि :—

मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं।
दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं॥ ४।५।९

लेकिन अब दूसरी समस्या यह प्रारम्भ हो गई कि अभी तक तो बालि का युद्ध रावण अथवा मायावी से भले ही हुआ हो, किन्तु सुग्रीव के प्रति बालि के हृदय में प्रीति थी। और बालि के जीवन में एक विशेष बात यह है कि उसने अनेक दैत्यों तथा राक्षसों को पराजित किया था, रामचरितमानस में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। रावण तथा मायावी को बालि ने परास्त किया ही, किन्तु आगे चलकर यह कथा आती है कि दुन्दुभि नाम के दैत्य ने बालि को चुनौती देने की चेष्टा की तो उसने दुन्दुभि का भी वध कर दिया। किन्तु उस प्रसङ्ग में बालि की मनोवृत्ति पर बहुत बढ़िया कटाक्ष किया गया है। वैसे व्यवहार तो यह कहता है कि दुन्दुभि को मारने के पश्चात् बालि या तो उसे जला देता, अथवा गाड़ देता, पर लिखा है कि उसने दुन्दुभि को मारने के बाद उसका शव उठाकर ऋष्यमूक पर्वत पर स्थित ऋषियों के आश्रम में फेंक दिया। किन्तु प्रश्न यह है कि मार देने के पश्चात् फिर शव फेंकने की क्या आवश्यकता थी ? इसका सीधा सा तात्पर्य यह है कि बालि सोचने लगा कि लोग यह तो देख लें कि मैंने कितनी बड़ी सफलता प्राप्त की है। और इस कथा में सबसे बड़ा अनोखापन तो यह है कि दैत्य का वध करने के बाद उसे ऋषियों का आशीर्वाद मिलना चाहिए था, किन्तु बालि को तो आशीर्वाद के स्थान पर श्राप मिला। वर्णन आता है कि जब दुन्दुभि का शव बालि ने ऋषियों के आश्रम में फेंका, तब उसकी हड्डियाँ, रक्त और माँस इत्यादि सब दूर-दूर तक फैल गया, और उसके कारण ऋषियों के यज्ञकुण्ड तथा आश्रम अपवित्र हो गए। अतः ऋषियों ने क्रुद्ध होकर श्राप दे दिया कि जिस व्यक्ति ने इस राक्षस के शव को यहाँ पर फेंका है, यदि वह इस पर्वत शिखर पर आने की चेष्टा करेगा, तो उसकी मृत्यु हो जाएगी। यहाँ वरदान के स्थान पर श्राप मिलने का तात्पर्य क्या है ? इस कथा के द्वारा यह बताया गया है कि जिस पुण्य में प्रदर्शन की प्रवृत्ति आ गई वह पुण्य तो स्वयं अपवित्र हो गया। तथा जो स्वयं अपवित्र बनकर दूसरे को भी अपवित्र बनाने की चेष्टा कर रहा है, वह तो श्राप का ही पात्र है, इसलिए ऋषि उसे श्राप देते हैं।

बालि के जीवन में प्रदर्शन की यही वृत्ति हमें दिखाई देती है। सुग्रीव को गुफा के बाहर खड़ा करने के मूल में भी उसकी यही मनोवृत्ति कार्य कर रही थी। बालि सोचने लगा कि यदि सुग्रीव को साथ लेकर मैं भीतर गया तो लोग यही कहेंगे कि सुग्रीव की सहायता से ही बालि मायावी का वध करने में सफल हुआ। इस प्रकार तो मेरे यश में यह हिस्सा बँटा लेगा, और मैं भला सुग्रीव की सहायता क्या लूँगा ? इसलिए वह सुग्रीव को साथ लेकर नहीं जाता है। किन्तु इतना होने पर भी दोनों भाइयों में अभी तक प्रेम बना हुआ था। लेकिन बालि तथा सुग्रीव में संघर्ष कब और कैसे प्रारम्भ हुआ ? इसकी पृष्ठ-भूमि पर भी थोड़ा विचार करें।

प्रसङ्ग आता है कि जब मायावी को मार कर बालि वापस आया, तब उसने देखा कि सुग्रीव मेरे सिंहासन पर बैठा हुआ है, और तब उसे क्रोध आ जाता है। अब यहाँ पर एक विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है, कि लौटकर आने के पश्चात् बालि अपने सिंहासन पर सुग्रीव के स्थान पर यदि अङ्गद को बैठा हुआ देखता, तो उसे कैसा लगता ? तब बालि को आपत्ति होती कि नहीं ? और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अङ्गद को सिंहासन पर बैठे देखकर बालि असन्तुष्ट न होता। बालि के असन्तोष के पीछे कौन सी वृत्ति कार्य कर रही है, इसका सूक्ष्म संकेत प्रारम्भ में किया जा चुका है। तथा यहाँ पर भी गोस्वामीजी ने ठीक वही शब्द प्रयुक्त किया है। सुग्रीव जी ने प्रभु से कहा कि **"महाराज ! बालि के अन्तःकरण की भेद बुद्धि मिटी नहीं थी"**।

बालि ताहि मारि गृह आवा।
देखि मोहि जियँ भेद बढ़ावा॥ ४।५।१०

इसका अर्थ है कि बड़े बड़े धर्मात्मा तथा पुण्यात्मा व्यक्ति भी अपने जीवन में भेद बुद्धि को नहीं छोड़ पाते हैं। इस भेद बुद्धि का तात्पर्य है **"मैं मेरा तथा तू तेरा (अपने-पराए) की वृत्ति"**। रामचरित-मानस में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है, कि :—

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥ ३।१४।२

बालि के हृदय में भी यही वृत्ति कार्य कर रही है। यदि उसमें भेद बुद्धि न होती तो वह समझ लेता कि छोटा भाई भी तो पुत्र के समान ही है, इसलिए अंगद बैठा हो चाहे सुग्रीव, किन्तु मेरे लिए तो दोनों बराबर हैं। लेकिन भेद बुद्धि के कारण भाई को सिंहासन पर बैठे हुए देखना उसे सहन नहीं है। और आप विचार करके देखिए तो आपको लगेगा कि समाज में सारी टकराहट इसी अपने तथा पराए की वृत्ति के कारण ही होती है।

किन्तु भगवान श्रीराम ने समन्वय की स्थापना के लिए एक नया कार्य किया। उन्होंने किष्किन्धा के सिंहासन पर सुग्रीव को बैठाने के बाद भी युवराज पद सुग्रीव के पुत्र को न देकर वालि के बेटे अंगद को दिया।

लछिमन तुरत बोलाए पुरजन बिप्र समाज।
राज दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुबराज ॥ ४।११

तथा भगवान श्रीराम ने जब राज्य चलाने के लिए सुग्रीव से कहा तब वे उन्हें यह अवश्य याद दिला देते हैं कि :—

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू ।४।११।९

प्रभु ने कहा कि सुग्रीव! तुम अंगद के साथ राज्य चलाना। भगवान श्री राघवेन्द्र का तात्पर्य है कि जिस भेद बुद्धि के कारण तुम दोनों भाइयों में टकराहट हुई है। यदि वही भेद बुद्धि तुम्हारे मन में भी विद्यमान है तो तुम समाज को सुव्यवस्थित रूप से नहीं चला पाओगे। यदि अंगद को पराया समझोगे, तो तुम व्यवहार का उचित पालन नहीं कर सकोगे, इसलिए तुम वालि की भूल को मत दुहराना। इसका अभिप्राय है कि यद्यपि वालि, अपने जीवन में समस्त पुण्यों का पालन करते हुए अनेक शक्तिशाली दैत्यों को पराजित करता है, किन्तु इतना होते हुए भी अपने अहंकार प्रदर्शन एवं भेद बुद्धि आदि दुर्गुणों के कारण ही अन्त में वह भगवान श्रीराम के द्वारा प्रहार का भागी बनता है। पर सुग्रीव को प्रभु सावधान कर देते हैं कि यह भेद बुद्धि तुम अपने मन में नहीं पालना।

यही सूत्र आपको अयोध्या के सन्दर्भ में मिलेगा। वहाँ पर भी सुख, शान्ति तभी तक दिखाई देती है, जब तक यह भेद बुद्धि उत्पन्न नहीं हुई। अयोध्या के दर्शन का एक मधुर चित्र प्रस्तुत करते हुए गोस्वामीजी गीतावली रामायण में कहते हैं कि भगवान राम ने सबसे पहले जब कौशल्या अम्बा को माँ कहकर पुकारा, तो कौशल्या अम्बा ने तुरन्त श्रीराम का मुँह बन्द कर दिया, तथा उन्होंने कहा राम! तुम मेरी गोद में हो, इससे यह मत समझ लो, कि मैं तुम्हारी माँ हूँ। बालक श्रीराम ने जानना चाहा कि फिर मेरी माँ कौन है? तो कौशल्या अम्बा ने कहा कि, तुम्हारी माँ तो कैकेयी हैं। इसका अभिप्राय हुआ कि कौशल्याजी के अन्तःकरण में अपने और पराए की वृत्ति है ही नहीं। अगर उनमें अपने-पराए की भावना होती तो वे यह चाहतीं कि राम मुझे माँ के रूप में स्वीकार करें, तथा कैकेयी से सर्वदा सावधान रहें, क्योंकि कैकेयी तो सौतेली माँ हैं। उन्होंने श्रीराम के मन में कभी यह संस्कार पैठाने की चेष्टा नहीं की कि सौतेली माँ तो बड़ी दुष्ट होती है, उसके अन्तःकरण में कोई सद्भावना नहीं हो सकती। अपितु कौशल्या अम्बा तो भगवान श्री राघवेन्द्र के अन्तःकरण में भी वही संस्कार प्रविष्ट कराती हैं कि

जिससे राम के मन में भी कभी भेद-बुद्धि उत्पन्न न हो सके। और कौशल्या अम्बा का यह संस्कार कितना प्रबल था, यह हमें तब दिखलाई देता है कि जब वन गमन के अवसर पर प्रभु ने कौशल्या अम्बा को प्रणाम करके कहा कि माँ! मुझे वन जाने की आज्ञा दीजिए। श्रीराम के इस वाक्य को सुनकर कौशल्याजी ने कहा पुत्र! यदि तुम्हारे पिता ने तुमको वन जाने की आज्ञा दी है तो मैं तुम्हें वन जाने से रोक सकती हूँ? क्योंकि—

जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥ २।५५।१

"**माँ का स्थान पिता की अपेक्षा बड़ा है**", लेकिन उन्होंने अगला वाक्य जो कहा था वह तो केवल कौशल्या अम्बा जैसी ज्ञानमयी वृत्ति ही कह सकती थीं, जिनके जीवन में अभेद नाम मात्र के लिए भी नहीं है। और तब उन्होंने कहा कि राघवेन्द्र! —

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना॥ २।५५।२

पर यदि पिता के साथ-साथ तुम्हारी माँ कैकेयी ने भी तुम्हें वन जाने का आदेश दिया है, तब तो मैं यही कहूँगी कि तुम्हारे लिए वन अयोध्या की अपेक्षा भी सैकड़ों गुना श्रेष्ठ है। वे तो कहती हैं कि माता की अपेक्षा भी विमाता का स्थान अधिक श्रेष्ठ है, इसलिए तुम्हें कैकेयी के आदेश का पालन करना चाहिए। तथा श्रीराम भी अम्बा कौशल्या के इसी आदर्श का पालन करते हैं। यद्यपि उनकी अपनी माता कौशल्या हैं, कैकेयीजी श्रीराम की जन्मदात्री माँ नहीं हैं, लेकिन श्री राघवेन्द्र अपनी माता की तुलना में कैकेयीजी को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि कैकेयीजी को प्रतिक्षण यह बोध होता है कि राम तो अपनी माता की अपेक्षा भी मुझे अधिक मानते हैं। वे स्वयं यह स्वीकार करती हैं कि—

कौसल्या सम सब महतारी।
रामहि सहज सुभायँ पिआरी॥
मो पर करहिं सनेहु बिसेषी। २।१४।६

और दूसरी ओर कैकेयी अम्बा के अन्तःकरण में भी अपने पुत्र भरत की अपेक्षा श्री राम के प्रति अधिक अनुराग दिखाई देता है। इसीलिए रामचरितमानस में आपको यह संकेत प्राप्त होता है कि महाराज श्री दशरथ ने श्री राम को राज्य देने का जो निर्णय किया, उसके पीछे कैकेयीजी की ही प्रेरणा थी। अगर कैकेयीजी की सम्मति न होती, तो महाराज श्री दशरथ यह साहस कभी नहीं कर सकते थे, क्योंकि कैकेयीजी से विवाह करते समय वे यह वचन दे चुके थे कि कैकेयी से उत्पन्न पुत्र ही अयोध्या के राज्य का उत्तरा-

धिकारी होगा। पर कैकेयीजी के अन्तःकरण में तो श्री राम के प्रति इतना अधिक स्नेह है कि श्री भरत कई वर्ष तक ननिहाल में रहे, किन्तु कैकेयीजी को एक क्षण के लिए भी उनके अभाव की अनुभूति नहीं हुई। क्योंकि श्रीराम के सामीप्य से उन्हें महान सुख प्राप्त होता था। वे लोगों से कहती भी यही थीं कि :—

भरतु न मोहि प्रिय राम समाना। २।४८।५

अतः कैकयीजी ही महाराज श्री दशरथ को प्रेरित करती रहती हैं कि विवाह में दिए गए वचनों की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का अधिकार तो मुझे ही प्राप्त है, और मैं स्वयं अपने अधिकार का परित्याग करती हूँ। मैं चाहती हूँ कि राज्य का उत्तराधिकार राम को प्राप्त हो भरत को नहीं। तथा महाराज दशरथ भी परम सन्तुष्ट थे, वे सोचते थे कि इससे अधिक प्रसन्नता की क्या बात हो सकती है कि महारानी कैकेयी जब स्वयं ही अपने अधिकार का परित्याग कर राम को राज्य दिला रही हैं तो इसके द्वारा राजकुल की परम्परा का पालन भी हो जाएगा तथा परिवार में किसी प्रकार का संघर्ष भी नहीं होगा। कैकेयी की इसी भावना को दृष्टिगत रखकर महाराज श्री दशरथ ने श्री राम को युवराज पद देने की घोषणा कर दी। तथा इस घोषणा के पश्चात् अन्य रानियों के पास जाकर दासियों ने यह समाचार दिया कि महाराज ने कल श्रीराम को सिंहासन पर बैठाने का निश्चय किया है। किन्तु उस प्रसङ्ग में आश्चर्य यह होता है कि कैकेयीजी को किसी दासी ने यह समाचार क्यों नहीं दिया ? वस्तुतः महाराज के मन में इस कार्य के पीछे एक अनोखी भावना कार्य कर रही थी। क्योंकि परम्परा यह थी कि जब कोई अत्यन्त शुभ समाचार देता था, तब प्रसन्न होकर सामने वाला व्यक्ति उसे पुरस्कार देता था। गोस्वामीजी रामचरितमानस में इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि अन्य रानियों को जिन दासियों ने यह समाचार दिया, उन्हें पुरस्कार प्राप्त हुआ।

प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाए।
भूषन बसन भूरि तिन्ह पाए।। २।७।१

इसलिए महाराज श्री दशरथ ने सोचा कि अन्य रानियों के पास तो भले ही दासियों के द्वारा समाचार पहुँच जाए, पर कैकेयीजी को तो यह समाचार मैं स्वयं ही जाकर दूँगा। और फिर मैं उनसे यह कहूँगा कि जब इतना सुखद समाचार मैं आपको दे रहा हूँ तो इसके प्रतिदान में आप मुझे क्या पुरस्कार देना चाहेंगी वह आप बताइए ? इसका अभिप्राय है कि कैकेयीजी को सूचना न दिए जाने के पीछे महाराज की यही प्रीति की भावना कार्य कर रही थी। उनके मन में किसी प्रकार के षड़यन्त्र की वृत्ति नहीं थी। इसलिए गोस्वामीजी ने लिखा है कि :—

साँझ समय सानंद नृपु गयउ कैकई गेहँ। २।२४

महाराज श्री दशरथ बड़ी प्रसन्नता पूर्वक यह समाचार देने के लिए कैकेयी के महल में जाते हैं। उनके मन में यदि किसी प्रकार का दुर्भाव होता तो उन्हें यह आशंका अवश्य होती कि पता नहीं, इस समाचार को सुनकर कैकेयीजी के मन में क्या प्रतिक्रिया होगी ? और तब वे प्रसन्न मन से नहीं अपितु शंकित हृदय से जाते। किन्तु महाराज श्री दशरथ तो यह सोच कर आनन्दित हो रहे थे कि आज अकस्मात् जब मैं कैकेयीजी को यह सूचना दूँगा कि मैंने राम को राज्य सिंहासन देने का निर्णय किया है तब उनको पता नहीं कितनी प्रसन्नता होगी। क्योंकि आज मैंने उनके प्रस्ताव को साकार रूप दे दिया है। इसीलिए जब उन्होंने कैकेयीजी को कोप भवन में देखा, तब उनका क्रोध शान्त करने के लिए वे कौन सी पद्धति का आश्रय लेते हैं ? यद्यपि नियम तो यह है कि जब हमें किसी व्यक्ति का क्रोध शान्त करना हो तब उसे ऐसा बढ़िया समाचार देना चाहिए जिससे उसका मन प्रसन्न हो जाए। और महाराज श्री दशरथ ने सोचा कि यह तो केवल एक ही समाचार के द्वारा प्रसन्न हो सकती हैं, तथा वही सूचना देते हुए महाराज श्री दशरथ ने कैकेयी से कहा कि :—

भामिनि भयउ तोर मन भावा।
घर-घर नगर अनंद बधावा॥ २।२६।२

वे कहते हैं कि कैकेयी क्या तुम नहीं सुन रही हो कि सारे नगर में आज वाद्य बज रहा है, उत्सव मनाया जा रहा है। यह सब कुछ तुम्हारी प्रसन्नता के लिए ही तो हो रहा है। तुम्हीं तो यह चाहती थीं कि वह घड़ी कब आएगी जबकि राम को युवराज पद दिया जायगा। इसका अभिप्राय है कि जब तक परस्पर सौहार्द की वृत्ति थी तब तक तो अयोध्या में सुख-शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ था, चारों ओर आनन्द की बाढ़ आ रही थी। गोस्वामीजी अयोध्या के सुख, शान्ति तथा आनन्द का वर्णन करते हुए कहते हैं कि :—

भुवन चारि दस भूधर भारी।
सुकृत मेघ बरसहिं सुख बारी॥
रिधि सिधि संपति नदीं सुहाई।
उमगि अवध अंबुधि कहुं आई॥ २।०।३

किन्तु अयोध्या में अनर्थ की सृष्टि कब हुई, तथा उस अनर्थ के मूल में कौन विद्यमान है, जरा इस प्रश्न पर भी हम और आप विचार करें। गोस्वामीजी कहते हैं कि मंथरा के कारण ही अयोध्या में इतना बड़ा अनर्थ हुआ। इस प्रसङ्ग में आप यह भी ध्यान रखेंगे कि अगर कैकेयी ने स्वेच्छा से अपने

अधिकार का परित्याग न किया होता तो वे महाराज श्री दशरथ से पूछ सकती थीं कि जब विवाह में आपने मेरे पुत्र को ही राज्य देने का वचन दिया था, तो फिर आज राम को राज्य कैसे दे दिया ? यही बात कैकेयीजी ने मंथरा से भी कही। उन्होंने कहा मंथरा ! मैं क्या करूँ ? क्योंकि महाराज श्री दशरथ को मैंने ही तो यह प्रेरणा दी है कि वे राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करें। और जब मैंने स्वतः अपने अधिकार का परित्याग कर दिया तो अब मैं कौन सा मुँह लेकर उनसे अपने अधिकार की माँग करूँगी ? किन्तु मंथरा इस वाक्य से घबराई नहीं, उसने कहा, महारानी ! विवाह में दिए गए वचन की तो आप चर्चा ही मत उठाइए। आप तो उन्हीं वरदानों की माँग कीजिए, जिन्हें देने की प्रतिज्ञा महाराज श्री दशरथ ने रणाङ्गण में की थी। उसका वाक्य यही है कि :—

दुइ बरदान भूप सन थाती।
मागहु आज जुड़ावहु छाती ॥ २।२१।५

इसीलिए गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में मंथरा की विशेषता बताते हुए कहा कि वह तो "**बड़ी कुटिल**" थी।

कोटि कुटिल मनि गुरू पढ़ाई ॥

और मंथरा के कारण ही अयोध्या में राम-राज्य बनते-बनते रुक गया। तथा मंथरा का तात्पर्य है '**भेद बुद्धि**"। इसका अर्थ है कि चाहे हमें समाज में राम राज्य बनाना हो, अथवा एक देश में, किन्तु यदि मंथरारूपा भेद बुद्धि का प्रवेश हमारे अन्तःकरण में होगा तो राम राज्य के निर्माण में बाधा अवश्य उत्पन्न होगी। यह मंथरा कैकेयी के अन्तर्मन में अपने-पराए की वृत्ति को जागृत करने में सफल हो गई। वह कैकेयी जी से कहती है कि भरत तुम्हारा बेटा है तथा राम तो कौशल्या के पुत्र हैं। तुम्हें अपने पुत्र का स्वार्थ देखना चाहिये, दूसरे के बेटे के स्वार्थ की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। अपितु दूसरे के बेटे को तो अधिक से अधिक कष्ट देने की चेष्टा करनी चाहिए। अपना कष्ट तुम दूसरे को दे दो तथा उसका आनन्द स्वयं ले लो। इसलिए तुम महाराज श्री से "**सुतहि राजु रामहि बनबासू**"। का वरदान ही माँगो।

कैकेयी जी कह सकती थीं कि भरत के लिए राज्य माँगना तो उचित है किन्तु "**रामहि बनवासू**" की क्या आवश्यकता है। तब मंथरा ने कहा कि भरत को राज्य मिलने से तुम्हें तो प्रसन्नता होगी। लेकिन अपनी प्रसन्नता की ही चिन्ता मत करो, अपितु कौशल्या को कष्ट पहुँचाने की भी चेष्टा तो करो। इसलिए तुम राम को वनवास अवश्य माँगो।

सुतहि राजु रामहि बनबासू।
देहु लेहु सब सवति हुलासू ॥ २।२१।६

उसने कहा कि कौशल्या ने अगर षड़यन्त्र रचकर अपने पुत्र को राजा बनाने का प्रयत्न किया है तो आप भी उनसे ऐसा बदला लीजिए, जिससे उनका सारा सुख समाप्त हो जाए, तथा कौशल्या के चौदह वर्ष रोते-रोते ही व्यतीत हो जाएँ। और मंथरा कैकेयीजी के हृदय में यह वृत्ति पैठाने में सफल हो गई कि अपने तथा पराए में भेद करना चाहिए।

भगवान श्री राघवेन्द्र का अभिप्राय था कि सुग्रीव ! हम दोनों के परिवार का एक ही अनुभव है कि व्यक्ति के अन्तःकरण में जहाँ भेद बुद्धि आई, वहीं पर संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इसलिए यदि तुम व्यवहार में ठीक-ठीक समन्वय स्थापित करना चाहते हो तो तुम्हारा कर्तव्य यही है कि तुम अङ्गद को अपने जीवन में सबसे अधिक महत्त्व दो। भगवान राम के चरित्र में आदि से अन्त तक आपको व्यवहार का यही समन्वित रूप दिखाई देगा। एक समय तो भगवान राम के समक्ष इतनी विकट परस्थिति आ गई कि उस समय प्रभु के स्थान पर यदि कोई अन्य पात्र होता तो वह विचलित हुए बिना न रहता।

गोस्वामी जी संकेत करते हैं कि जब भगवान राम अपने मन्त्रिमण्डल से यह प्रश्न करते हैं कि समुद्र को कैसे पार किया जाय ? तब विभीषणजी ने अपनी सम्मति प्रकट करते हुए भगवान श्री राघवेन्द्र से कहा कि महाराज ! आप समुद्र के किनारे अनशन कीजिए। उसके पश्चात् समुद्र आपको मार्ग देगा, तथा सेना बड़ी सरलता से पार हो जाएगी। मेरी दृष्टि में तो यही सबसे अच्छा उपाय है।

जद्यपि तदपि नीति असि गाई।
बिनय करिअ सागर सन जाई।। ५।४९।८

प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि।। ५।५०

विभीषणजी की सम्मति को सुनकर, अचानक भगवान श्री राघवेन्द्र के श्री मुख से यह वाक्य निकला कि :—

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई।
करिअ दैव जौं होइ सहाई।। ५।५०।१

प्रभु ने कहा मित्र ! तुमने बहुत सुन्दर उपाय कहा है। अगर दैव सहायक होगा तो हमें अवश्य सफलता मिलेगी। किन्तु गोस्वामी जी ने कहा कि प्रभु का यह वाक्य सुनकर श्री लक्ष्मणजी को क्रोध आ गया तथा उन्होंने बिगड़ते हुए कहा कि :—

नाथ दैव कर कवन भरोसा।
सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा।। ५।५०।३

वे कहते हैं प्रभु ! समुद्र का क्या भरोसा है, आपको समुद्र के समक्ष अनशन करने की क्या आवश्यकता है ? आप तो बाण के द्वारा समुद्र सुखा

दीजिए। और इस प्रसङ्ग को पढ़कर आप कल्पना कीजिए कि भगवान राम के सामने कितनी विकट परिस्थिति रही होगी ? क्योंकि एक ओर लक्ष्मण हैं तथा दूसरी ओर विभीषण। एक यदि शत्रु का छोटा भाई है तो दूसरा अपना छोटा भाई है। उस समय प्रभु के सामने यह प्रश्न उठा कि शत्रु के भाई को अधिक महत्त्व दें अथवा अपने भाई को। यदि केवल साधारण दृष्टि से देखा जाए तो भगवान श्री राम को सोचना चाहिए था कि लक्ष्मण मेरा परखा हुआ भाई है। वह तो मेरी सेवा के लिए माता-पिता तथा राज्य सम्पत्ति आदि का भी परित्याग कर चुका है। और लक्ष्मण में तेजस्विता तथा शौर्य भी है, आगे चलकर उसके गुण मेरे लिए सहायक भी होंगे। इसलिए मैं लक्ष्मण को ही अधिक महत्त्व दूँगा, विभीषण की बात का क्या विश्वास ? बल्कि सत्य तो यह है कि विभीषण जी की सम्मति सुनकर कुछ लोग चौंक पड़े। उनको ऐसा लगा कि कहीं यह व्यक्ति यहाँ पर काम बिगाड़ने के लिए ही तो नहीं आया है। तथा सुग्रीव को तो पहले ही संदेह था कि यह रावण का भेजा हुआ कोई भेदिया है, इसलिए इसने आते ही प्रभु को ऐसी सलाह दी कि जिससे लंका पर आक्रमण करने में विलम्ब लगे। और केवल मित्र पक्ष ही नहीं, अपितु शत्रु पक्ष भी विभीषण की सम्मति को अनुचित मान रहा है।

गोस्वामीजी इसका संकेत देते हुए कहते हैं कि रावण के द्वारा भेजे गए दोनों गुप्तचर जब लंका लौटकर आए तब रावण ने उनसे पूछा कि इस समय राम कौन सी योजना बना रहे हैं ? तब इन दूतों ने कहा कि विभीषणजी ने श्रीराम को समुद्र से मार्ग माँगने के लिए अनशन करने की सम्मति दी है। और श्रीराम इस समय समुद्र के किनारे अनशन कर रहे हैं। तुलसीदासजी ने लिखा कि दूतों की यह बात सुनकर रावण बहुत जोर से हँसा।

सुनत बचन बिहसा दससीसा। ५।५५।४

और हँस कर बोला कि यही समझकर तो मैंने विभीषण को यहाँ से भेजा था। क्योंकि मैंने उसकी सलाह मानी तो मेरी लंका जल गई, और राम उसकी सम्मत्ति मानकर यदि अनशन के द्वारा मार्ग माँगते रहेंगे, तब तो युद्ध हो चुका। रावण ने कहा कि विभीषण की बुद्धि ऐसी है कि वह सर्वदा उल्टी सलाह ही देगा और यदि राम ने उसकी सम्मति को स्वीकार किया तो उनको भी युद्ध में विजय प्राप्त होने वाली नहीं है। रावण तो भगवान श्रीराम की इसीलिए आलोचना करता है, क्योंकि उन्होंने विभीषण की सम्मति को स्वीकार कर लिया। उसने अपने दूतों को आश्वस्त करते हुए कहा कि अब घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि :—

सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई।
सागर सन ठानी मचलाई॥

मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई ।
रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई ॥
सचिव सभीत विभीषन जाके ।
बिजय बिभूति कहाँ जग ताके ॥ ५।५५।७

इसका अभिप्राय है कि विभीषण के विचारों से कोई भी व्यक्ति सहमत नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति यही समझ रहा है कि विभीषण तो हमारा काम बिगाड़ना चाहता है। लेकिन भगवान श्री राम की नीति यही है कि वे अपने की अपेक्षा पराए को सर्वदा अधिक महत्त्व देते हैं। यहाँ पर भी प्रभु ने श्री लक्ष्मण जी का हाथ पकड़कर कहा कि :—

सुनत बिहसि बोले रघुवीरा ।
"ऐसेहिं करब ———————— ॥ ५।५०।५

लक्ष्मण ! मैं वही करूँगा जो तुम कहते हो, किन्तु अभी नहीं, लक्ष्मण जी ने कहा कि फिर कब करेंगे ? तो प्रभु ने तुरन्त कहा कि :—

ऐसेहिं करब धरहु मन धीरा ॥ ५।५०।५

भाई ! थोड़ा सा धैर्य धारण करो। और उसके पश्चात् समुद्र के किनारे बैठकर अनशन करते हुए भगवान श्रीराम को जब तीन दिन व्यतीत हो गए, किन्तु फिर भी समुद्र ने मार्ग नहीं दिया, तब भगवान श्री राघवेन्द्र ने लक्ष्मण जी से कहा कि :—

लछिमन बान सरासन आनू । ५।५७।१

प्रभु ने कहा लक्ष्मण ! लाना तो मेरा धनुष बाण ! भगवान श्री राम के इस वाक्य को सुनकर लक्ष्मण जी को हँसी आ गई। और वे बोले महाराज ! जब यह कार्य तीन दिन पहले भी हो सकता था तो फिर तीन दिन का समय व्यर्थ ही गँवाया। आप लोग भी विचार करके देखिए कि क्या सचमुच यह समय व्यर्थ गया ? और इसका उत्तर यह है कि इन तीन दिनों में भगवान राम को समुद्र के द्वारा मार्ग भले ही न मिला हो, लेकिन विभीषण का हृदय तो उन्होंने अवश्य ही जीत लिया। क्योंकि विभीषण जी ने यह देखा कि भगवान राम ने अपने भाई की अपेक्षा मुझे अधिक सन्मान दिया। अपने की अपेक्षा प्रभु शत्रु के भाई को अधिक महत्त्व दे रहे हैं, तब वे पूरी तरह से भगवान श्री राम के प्रति समर्पित हो गए ! तथा लंका का युद्ध जीतने में उन्होंने बहुत बड़ा सहयोग दिया क्योंकि लंका के गुप्त रहस्य विभीषण जी ही प्रभु को बताया करते थे। और विभीषण को यह सारे रहस्य बताने का साहस इसीलिए हुआ क्योंकि प्रभु उनकी सलाह को मानते थे। और आप यह निश्चित समझ लीजिए कि अगर विभीषण जी की प्रथम सम्मति ही अस्वीकार कर दी जाती तो उनके मन में यह बात अवश्य आती कि यहाँ पर मुझे सन्देह

की दृष्टि से ही देखा जा रहा है। इसलिए मुझे अपने की बात प्रकट नहीं करनी चाहिए। और तब वे प्रभु को कोई सलाह न देते। किन्तु भगवान श्री राम ने तो अपने व्यवहार के द्वारा उनके हृदय को वश कर लिया। और प्रभु के चरित्र का दर्शन यही है कि भेद बुद्धि को मिटाकर यदि हम व्यवहार चलाएगें तो हम अपने चरित्र के द्वारा समाज में सौहार्द तथा स्नेह की सृष्टि करेंगे। भगवान श्री राम सर्वत्र इसी सिद्धान्त का पालन करते हैं।

किष्किन्धाकाण्ड के प्रारम्भ में वर्णन आता है कि जब हनुमानजी तथा भगवान श्री राघवेन्द्र का प्रथम मिलन हुआ उस समय, प्रभु ने हनुमान जी को हृदय से लगाकर कहा कि :—

सुनु कपि जियं मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।। ४।२।७

प्रभु ने कहा कि तुम तो मुझे लक्ष्मण से दूने प्यारे हो। बाद में किसी समय भगवान राम ने पूछ दिया कि हनुमान ! जब मैंने तुम्हें लक्ष्मण से दूना बताया तब तुम्हें कैसा लगा ? हनुमान जी ने उत्तर दिया कि महाराज ! आपका वाक्य सुनकर तो मेरे मन में श्री लक्ष्मण जी के प्रति ईर्ष्या हो गई। और मैं सोचने लगा कि प्रभु ! आप लक्ष्मण जी को कितना अपना मानते हैं कि उनके सामने ही आपने मुझे उनसे दूना बता दिया। आपने यह चिन्ता नहीं की, कि इनके सामने ही अगर मैं हनुमान को दूना कह दूँगा तो लक्ष्मण को बुरा लग जाएगा। सचमुच कितना अधिक विश्वास था आपको लक्ष्मण जी के ऊपर। और प्रभु ! मैं तो लक्ष्मण जी से इसीलिए ईर्ष्या करता हूँ कि आप श्री लक्ष्मण जी को जितना अपना मानते हैं, उतना मुझे नहीं, तभी तो आपने मुझे दूना कहा था। और महाराज ! जब मेरी तुलना में किसी अन्य व्यक्ति को आप दूना बताएँगे, तब मैं समझ लूँगा कि अब आप सचमुच मुझे अपना मानते हैं। और भई ! प्रभु का यही सन्तुलन हमें सर्वत्र दिखाई देता है। तथा प्रभु के व्यवहार का मूल आधार भी यही है। इसी को दृष्टिगत रखकर भगवान श्री राम ने सुग्रीव जी से कहा कि :—

अंगद सहित करेहु तुम्ह राजू। ४।११।९

और दूसरी ओर भगवान श्री राघवेन्द्र, अङ्गद के मन की ग्रन्थि भी दूर करना चाहते हैं। यद्यपि प्रभु के प्रति तो अङ्गद के अन्तःकरण में जरा भी विद्वेष अथवा संशय की वृत्ति नहीं है, पर सुग्रीव के प्रति सन्देह अवश्य था। इस संशय की वृत्ति को मिटाने के उद्देश्य से ही भगवान श्री राम ने सीताजी का पता लगाने के लिए बन्दरों को अङ्गद के नेतृत्त्व में भेजा। किन्तु इस प्रसङ्ग में भी अंगद के मन में थोड़ी सी ग्रन्थि बन गई। उन्हें लगा कि श्री हनुमानजी को ही भगवान ने अपनी विशेष कृपा का पात्र माना। इसलिए

उन्हीं को अपना दूत बनाकर भेज रहे हैं। किन्तु अंगद के मन की इस ग्रन्थि को दूर करने के लिए भगवान राम ने रावण के पास अंगद को अपना विशेष दूत बनाकर भेज दिया। तथा दूत के रूप में जो अधिकार हनुमानजी को नहीं दिया था, वह अधिकार अंगद को देकर भेजा। हनुमानजी तो केवल श्री सीताजी को संदेश सुनाने का अधिकार लेकर गए थे। प्रभु ने उन्हें यही आदेश दिया था कि :—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु।

कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥ ४।२२।११

किन्तु भगवान राम ने अङ्गद को इतना बड़ा अधिकार सौंप दिया कि वे रावण की सभा में यह प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि :—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी।

फिरहिं रामु सीता मैं हारी ॥ ६।३३।९

उन्होंने कहा, रावण ! यदि तुम मेरा पैर हटा दो, तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा। और विदेहनन्दिनी को हार जाने का अधिकार दे देना तो अङ्गद के प्रति भगवान राम के विश्वास की पराकाष्ठा थी। इसीलिए भगवान श्री राघवेन्द्र के चरित्र की विशेषता बताते हुए गोस्वामीजी ने कहा कि श्रीराम के समान नीति और प्रीति एवं परमार्थ तथा स्वार्थ को यथार्थ रूप में कोई नहीं जान सकता।

नीति प्रीति परमारथ स्वारथु।

कोउ न राम सम जान जथारथु ॥ २।२५३।५

तथा राजदूत बनाकर भेजते समय प्रभु ने अङ्गद से कहा कि मैंने हनुमानजी को सीताजी के पास दूत बनाकर भेजा, इस कारण से तुम अपने मन में किसी प्रकार की हीनता का अनुभव मत करना। वह तो मेरा एक अन्तरङ्ग सम्वाद था, जिसे केवल सुनाना मात्र था। पर तुम्हें तो मैंने एक विशेष कार्य के लिए चुना है। और इस कार्य को तो केवल तुम्हीं कर सकते हो। अङ्गद ने कहा कि महाराज ! हनुमानजी को लंका भेजते समय जैसे आपने यह बता दिया था कि तुम्हें क्या कार्य करना है, उसी प्रकार मुझे भी बता दीजिए कि मुझे कौन-कौन सा कार्य करना है ? तब प्रभु ने मुस्कुराते हुए कहा कि अङ्गद मैं यह नहीं बताऊँगा कि तुम्हें क्या करना है ? क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम अत्यन्त बुद्धिमान तथा एक योग्य राजनीतिज्ञ हो, इसलिए मैं तुम्हें पूरा अधिकार देकर भेज रहा हूँ।

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ।

परम चतुर मैं जानत अहऊँ ॥ ६।१६।७

तथा अङ्गद पर इस प्रकार का विश्वास केवल श्रीराम ही कर सकते थे। यदि अन्य कोई व्यक्ति होता तो सोचता कि जिस व्यक्ति के पिता का

वध स्वयं मैंने किया है, उसके मन में मेरे प्रति किस प्रकार की वृत्ति हो सकती है। और भगवान श्रीराम के इस कार्य को लौकिक राजनीति की दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता। यही तो कारण था कि जब रावण को यह समाचार मिला कि राम ने बालि के पुत्र अङ्गद को राजदूत बनाकर भेजा है तो मन ही मन वह सोचने लगा कि शायद अयोध्या के इस राजकुमार को राजनीति का **क-ख-ग** भी नहीं आता है। और तब उसने विचार किया कि आज अङ्गद को मैं अपनी ओर मिला लूँगा तथा राम की सारी राजनीति रखी रह जाएगी। किन्तु भगवान राम तो यही बताना चाहते थे कि रावण! जब तुम अपने छोटे भाई को अपने पास न रख सके तो फिर तुम अङ्गद को क्या रोक सकोगे? किन्तु रावण ने अङ्गद को अपनी ओर मिलाने की चेष्टा की। अङ्गद को भड़काने के उद्देश्य से रावण ने पूछ दिया कि :—

अब कहु कुसल बालि कहँ अहई। ६।२०।७

अरे भाई यह तो बताओ कि हमारे मित्र बालि कहाँ हैं? यद्यपि रावण को यह पता है कि बालि का वध हो चुका है। लेकिन वह अङ्गद को याद दिलाना चाहता है कि किसने मारा है तुम्हारे पिता को जरा यह तो सोचो? रावण आशा करता है कि मेरे इस वाक्य से अङ्गद की पुरानी चोट फिर से ताजी हो जाएगी तथा यह राम का विद्रोही बनकर मेरे पक्ष में सम्मिलित हो जाएगा। किन्तु अंगद का उत्तर सुनकर रावण पूरी तरह निराश हो गया। अंगद ने कहा, रावण! यदि बालि का कुशल-समाचार जानने की आपके मन में इतनी तीव्र उत्कंठा है, तो अब आपको अधिक दिन प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। क्योंकि दस दिन बाद तो आपकी भेंट उनसे होने ही वाली है। और तब आप अपने मित्र को हृदय से लगा कर उनसे कुशल-समाचार पूछ लीजिएगा।

दिन दस गएँ बालि पहिं जाई।
बूझेहु कुसल सखा उर लाई॥ ६।२०।८

इस उत्तर को सुनकर आश्चर्यचकित हो गया रावण। उसको लगा कि क्या कोई व्यक्ति इतना निर्लज्ज हो सकता है, जो अपने पिता का वध करने वाले के प्रति इस प्रकार की वृत्ति रखे। तथा बिगड़कर उसने कहा कि अंगद तेरा जन्म तो व्यर्थ ही हुआ, क्योंकि :—

गर्भ न गयहु व्यर्थ तुम्ह जायहु।
निज मुख तापस दूत कहायहु॥ ६।२०।९

अरे मूर्ख, जिस व्यक्ति ने तेरे पिता का वध कर दिया तू उसी का दूत बन कर आया है। तब अंगद ने अत्यन्त सार्थक उत्तर देते हुए कहा कि

रावण ! मैं बालि का पुत्र हूँ, मुझमें साहस है। मुझे उत्तेजित करने के लिए इस प्रकार के भाषण की आवश्यकता नहीं है, जिस प्रकार का भाषण तुम कर रहे हो। अगर मेरे अन्तःकरण में यह बात निश्चित हो जाती कि राम ने मेरे पिता को द्वेष पूर्वक मारा है, तो मैं उनको युद्ध की चुनौती देकर उन्हें परास्त करने की चेष्टा करता।

अङ्गद ने कहा, रावण ! तुम जरा विचार तो करो कि श्रीराम ने मेरे प्रति कितना अधिक विश्वास किया, जो कि सर्वाधिकार सम्पन्न राजदूत बनाकर मुझे यहाँ पर भेजा है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति होता तो कभी भी मुझ पर इतना विश्वास न करता।

अङ्गद ने कहा, रावण ! मैं तुम्हें यह बता देना चाहता हूँ कि मैंने सर्वदा श्रीराम को केवल ईश्वर के रूप में देखा है, तथा उनकी कृपा से मेरे मन में भेद बुद्धि पूरी तरह से मिट चुकी है। अङ्गद का वाक्य यही है कि :—

सुनु सठ भेद होइ मन ताकें।
श्री रघुबीर हृदय नहिं जाकें ।। ६।२०।१०

उनका तात्पर्य था कि जिसके हृदय में श्रीराम के ईश्वरत्त्व का बोध नहीं है, उसी के मन में अपने-पराए की वृत्ति आ सकती है। अङ्गद का अभिप्राय था कि जैसे एक शल्य-चिकित्सक किसी व्यक्ति के पिता की शल्य-चिकित्सा कर रहा हो, और चेष्टा करने पर भी उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाए तो उस व्यक्ति का पुत्र चिकित्सक से शत्रुता थोड़े ही मानेगा, अपितु शत्रुता के स्थान पर वह उस चिकित्सक की फीस देने के साथ-साथ, उससे यह भी कहेगा कि आपने तो मेरे पिता को बचाने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु यदि फिर भी वे न बच सके तो लगता है कि उनकी आयु पूर्ण हो चुकी थी। इसमें आपका कोई दोष नहीं है। क्योंकि वह जानता है कि चिकित्सक के मन में किसी के प्रति विद्वेष नहीं होता। इसी प्रकार भगवान श्रीराम ने भी मेरे पिता का वध किसी द्वेष अथवा शत्रुता के कारण नहीं किया। अपितु श्रीराम के हृदय में तो मेरे पिता के प्रति महान कृपा विद्यमान थी, और उन्होंने तो पिताजी से यही कहा था कि "**बालि मैं तुम्हें जीवित रखना चाहता हूँ**"

अचल करौं तनु राखहु प्राना। ४।९।२

इसका अभिप्राय है कि भगवान श्रीराम के हृदय में किसी के प्रति द्वेष नहीं है। तथा इसी द्वेष, भेदबुद्धि अथवा अपने पराए की वृत्ति को समाप्त करने का मूल सूत्र देते हुए भगवान श्री राघवेन्द्र ने सुग्रीवजी से कहा कि :—

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू। ४।११।९

और सुग्रीवजी प्रभु के इसी उपदेश को स्वीकार करके अपने जीवन में भेदवुद्धि को पूरी तरह मिटाकर अङ्गद का सहयोग लेते हैं। प्रभु के द्वितीय आदेश "**संतत हृदय धरेहु मम काजू**" (विदेहनन्दिनी के अन्वेषण के कार्य) का किस प्रकार पालन करते हैं, इसकी चर्चा हम कल करेंगे, आज इतना ही।

बोलिए सियाबर रामचन्द्र की जय।

श्री रामः शरणं मम

अष्टम प्रवचन

जनक सुता कइ सुधि भामिनी ।
जानहि कहु करिवरगामिनी ॥
पंपा सरहि जाहु रघुराई ।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा ।
जानतहूँ पूछहु मतिधीरा ॥
बार बार प्रभु पद सिरु नाई ।
प्रेम सहित सब कथा सुनाई ॥
कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदयँ पद पंकज धरे ।
तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ॥
नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू ।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू ॥
जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्हि असि नारि ।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि ॥ ३।३६

आइए, अब कुछ समय के लिए एकाग्र तथा शान्त चित्त से विदेहनन्दिनी सीता के अन्वेषण का जो स्वरूप श्री रामचरितमानस में प्रस्तुत किया गया है, उसका तत्त्व हृदयङ्गम करने की चेष्टा करें ।

भक्तिमती शबरी से भगवान राम ने जिज्ञासा प्रकट की कि जनकनन्दिनी को पुनः प्राप्त करने का क्या उपाय है ? प्रभु के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शबरीजी ने कहा कि आप पम्पासर की यात्रा करें, वहाँ सुग्रीव से आपकी मित्रता होगी, तथा उसके पश्चात् श्री सीताजी के अन्वेषण का मार्ग प्रशस्त

होगा। उनके आदेश को स्वीकार करके भगवान श्री राघवेन्द्र सुग्रीव से मित्रता करते हैं। किन्तु विषयों में आसक्त सुग्रीव कुछ समय के लिए भक्ति और भगवान को भूल जाते हैं। लेकिन जब उनके समक्ष मृत्यु का आतंक उपस्थित होता है, तब उन्हें पुनः भगवान श्रीराम का स्मरण आता है, और वे विदेहनन्दिनी का पता लगाने के लिए बन्दरों को दसों दिशाओं में भेजते हैं। इसी प्रसङ्ग में आगे चलकर यह वर्णन आता है कि दक्षिण दिशा में जाने वाले बन्दर जब भगवान श्रीराम के चरणों में प्रणाम करते हैं, तब उन बन्दरों में सबसे अन्त में श्री हनुमानजी ने प्रणाम किया। और भगवान श्री राघवेन्द्र ने उन्हें अपने पास बुलाकर अपनी मुद्रिका श्री हनुमानजी को दे दी। और उसके बाद प्रभु ने कहा कि हनुमान ! लंका में पहुँचकर तुम विदेहनन्दिनी को मेरे बल और विरह का संदेश देना, तथा उनको आश्वासन देकर तुम पुनः मेरे पास लौट आना।

इस प्रसङ्ग को पढ़ने के बाद पाठक को यह आश्चर्य अवश्य होता है कि जब भगवान श्रीराम को गीधराज के द्वारा यह समाचार प्राप्त हो चुका है कि :—

नाथ दसानन यह गति कीन्ही।
तेहि खल जनकसुता हरि लीन्ही॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं।

जब उन्हें यह भली प्रकार ज्ञात है कि श्री सीताजी का अपहरण करके रावण लंका में ले गया है, तो फिर समस्त दिशाओं में बन्दरों के भेजने की क्या आवश्यकता थी ? तथा दूसरा आश्चर्य यह है कि भगवान श्रीराम तो सर्वज्ञ के रूप में यह भी जानते हैं कि लंका में तो एकमात्र श्री हनुमानजी ही पहुँच सकेंगे, तब फिर इतने बन्दरों के द्वारा परिश्रम कराने की सार्थकता क्या है ? अधिक स्वाभाविक तो यही होता कि भगवान श्री राघवेन्द्र, अन्य बन्दरों को तो विदेहनन्दिनी की खोज से पृथक कर देते तथा एकमात्र हनुमानजी को बुलाकर उनसे कह देते कि तुम लंका चले जाओ तथा हनुमानजी प्रभु का संदेश श्री सीताजी तक पहुँचा देते। लेकिन प्रभु के द्वारा इतने स्वाभाविक क्रम का पालन न करने में निहित उद्देश्य को यदि हम जानना चाहें तो उस सूत्र को दृष्टिगत रखकर हमें इस प्रश्न पर विचार करना होगा, जिसकी चर्चा आपके सामने पहले की जा चुकी है।

प्रवचन के प्रारम्भिक दिन यह कहा गया था कि रामचरितमानस केवल चित्र ही नहीं है, अपितु इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि यह चित्र और दर्पण दोनों एक साथ है। तथा चित्र और दर्पण में जो अन्तर होता है, वही अन्तर, रामचरितमानस तथा अन्य ग्रन्थों में है। चित्र का गुण यह है कि

वह चित्र जिस काल का होता है, उसी काल के व्यक्ति का दर्शन हमें कराता है। और यदि रामचरितमानस भी केवल प्राचीन काल का चित्र ही होता तो उसके द्वारा हमें त्रेतायुग की उस झाँकी का दर्शन अवश्य हो जाता, जिसका वर्णन इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु दर्पण के रूप में रामचरितमानस भूतकाल के साथ-साथ वर्तमानकाल को प्रतिबिम्बित करने वाला ग्रन्थ है। और इस प्रसङ्ग पर आप अगर चित्र (इतिहास) की दृष्टि से विचार करें, तो इतने बन्दरों को भेजना कुछ अटपटा सा प्रतीत होगा। लेकिन रामचरितमानस के दर्पण में यदि आप वर्तमान को देखने की चेष्टा करें, तब आपको ऐसा लगेगा कि इन अगणित बन्दरों के द्वारा विभिन्न दिशाओं में जो श्री सीताजी की खोज की जा रही है, इसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार क्या आज समाज तथा व्यक्ति के जीवन में नहीं हो रहा है ? इसी सन्दर्भ में आपके सामने यह बात कही जा चुकी है कि श्री सीताजी वेदान्त की भाषा में मूर्तिमती शान्ति हैं, भक्तों की भाषा में वे साक्षात् पराभक्ति हैं, तथा गोस्वामीजी उनका वर्णन वात्सल्यमयी माँ के रूप में करते हैं और पुराणों की भाषा में सीताजी साक्षात् महालक्ष्मी हैं। और विदेहनन्दिनी के इन विविध रूपों को दृष्टिगत रखकर यदि हम वर्तमान सन्दर्भ में इस प्रसङ्ग पर विचार करें तो ऐसा प्रतीत होगा कि ब्रह्माण्ड में जितने भी व्यक्ति हैं, वे सब भिन्न-भिन्न दिशाओं की यात्रा कर रहे हैं। कोई पूरब जा रहा है तो कोई पश्चिम, कोई उत्तर जा रहा है और कोई दक्षिण। तथा अलग-अलग दिशाओं में जाते हुए व्यक्ति को देखकर आश्चर्य होता है कि यह सब किसको खोज रहे हैं ; इनका अन्तिम लक्ष्य क्या है ? और आन्तरिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत होगा कि इस यात्रा का उद्देश्य भी वस्तुतः श्री सीताजी को ही पाना है। संसार में हमें यही दिखाई देता है कि, शान्ति, भक्ति अथवा शक्ति को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति विविध प्रकार के कर्म कर रहे हैं। (अलग-अलग दिशाओं में चल रहे हैं)। इसलिए जब किसी ने प्रश्न किया कि इन बन्दरों ने विदेहनन्दिनी को कहाँ-कहाँ खोजा ? तब गोस्वामीजी ने इसका उत्तर बड़ा ही सांकेतिक भाषा में देते हुए कहा कि :—

चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह।
राम काज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह।। ४।२३

उनलोगों ने नदियों, पर्वतों तथा वनों में तो ढूँढ़ा ही किन्तु मार्ग में जितनी गुफाएँ दिखाई दीं, उनमें भी श्री सीताजी को खोजने की चेष्टा की। और यही सत्य हमारे और आपके जीवन का भी है। समाज में हमें बहुधा यही दिखाई देता है कि एक व्यक्ति यदि बद्रीनारायण की ओर प्रस्थान करता हुआ पहाड़ पर चढ़ता है, तो दूसरा कन्याकुमारी की यात्रा में समुद्र की ओर

जाता है। एक व्यक्ति रामेश्वरम् जाता है तो दूसरा काशी। तथा माघ के महीने में तो बहुत बड़ी संख्या में एकत्र होकर लोग नदी में गोता लगाते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि पहाड़ पर चढ़ने वाले, समुद्र की ओर यात्रा करने वाले जो अनेक लोग दिखाई दे रहे हैं, उन सबका लक्ष्य क्या है ? और इसका उत्तर यही है कि विभिन्न दिशाओं में यात्रा करते हुए भी प्रत्येक व्यवित श्री सीताजो को ही पाना चाहता है। कोई व्यक्ति यदि व्यापार कर रहा है, तो भी उसका अन्तिम लक्ष्य महालक्ष्मीरूपा श्री सीताजी को प्राप्त करना है। किन्तु जो साधक विदेहनन्दिनी की खोज में लगे हुए हैं यदि उनसे पूछ दिया जाय कि आपने तीर्थ यात्रा की, व्रत किए तथा समस्त सत्कर्मों का पालन किया, किन्तु क्या सचमुच अपको शान्ति की प्राप्ति हुई ? तब जो उत्तर त्रेतायुग का था, वही इस युग का भी होगा। तथा अधिकांश व्यक्ति अपने अन्तर्मन की अनुभूति के द्वारा यही स्वीकार करेगे कि भई ! अभी तो हमारे जीवन में भक्ति का उदय ही नहीं हुआ, शान्ति की उपलब्धि हुई ही नहीं। तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि केवल हनुमानजी जैसे बिरले व्यक्ति को ही श्री सीताजी का साक्षात्कार होना है तो फिर अन्य लोग उन्हें पाने के लिए परिश्रम क्यों करें ? लेकिन गोस्वामीजी यह बताना चाहते हैं कि विदेह-नन्दिनी के अन्वेषण की जो यात्रा चल रही है, वह अन्ततोगत्वा व्यर्थ नहीं जाती। इस प्रसङ्ग में भी आपको यही दिखाई देगा कि जो बन्दर जनक-नन्दिनी की खोज में चले थे, उनमें से अधिकांश तो निराश होकर लौट ही आए। तथा दक्षिण दिशा में भी जो बानर गए थे, वे समुद्र के किनारे पहुँच कर अटक गए। लेकिन विचार करके देखिए कि क्या इन बन्दरों को अन्त में अपने परिश्रम का परिणाम नहीं मिला, अपनी साधना का फल प्राप्त नहीं हुआ ? तथा यही उत्तर हम और आप अपने जीवन से जोड़कर देख सकते हैं।

यद्यपि प्रारम्भ में तो एकमात्र हनुमानजी ही जनकनन्दिनी के समीप पहुँच सके, पर भगवान श्रीराम उन बन्दरों से कहते हैं कि तुम भी उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करो, तुम भी साधना करो। प्रभु का तात्पर्य यह है कि एक जन्म में साधना के द्वारा हम अपने लक्ष्य को भले ही प्राप्त न कर सकें किन्तु यदि हम यह समझ कर अपने अन्तःकरण में निष्क्रियता को आरोपित कर लें कि यह साधना तथा सत्कर्म करना निरर्थक है, तीर्थयात्रा और कथा श्रवण करना व्यर्थ है, क्योंकि इसके द्वारा भी तो हमें भक्ति की प्राप्ति नहीं हुई। यदि हमारे अन्तःकरण में इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाए तो हम सही अर्थों में रामचरितमानस को नहीं समझ पाएँगे। गीता में भी भगवान कृष्ण ने यही सूत्र दिया है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।। ६।४५

अर्जुन ने प्रश्न किया कि महाराज ! आपने धर्म की समग्रता का जो लक्षण बताया उसे अपने जीवन में स्वीकार करने वाला तो कोई विरला व्यक्ति ही हो सकता है, यह तो बड़ा कठिन जान पड़ता है। और तब अर्जुन को भगवान यही उपदेश देते हैं कि समग्र धर्म तो लक्ष्य है, पर इसकी विलक्षणता यही है कि इस धर्म के रहस्य को समझकर व्यक्ति यदि इसका एक नन्हा सा भाग भी अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करे तो यह बड़े से बड़े भय से व्यक्ति की रक्षा करता है। भगवान श्री कृष्ण का वाक्य यही है कि :—

स्वल्प मप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।

इसी सन्दर्भ में आप इस यात्रा के वास्तविक उद्देश्य पर भी विचार करेंगे। यात्रा में अगर बन्दरों को विलम्ब लगा अथवा भटक गए, इसका तात्पर्य क्या है ? और इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए हमें रामचरित-मानस की आवश्यकता है। इस रामचरित मानस रूपी दर्पण में हम यह देख सकते हैं कि हम आप भी तो कहीं अटके अथवा भटके हुए नहीं हैं। हमारे अन्तःकरण में भी वही कमी तो विद्यमान नहीं है। जो बन्दरों के जीवन में थी।

इस प्रसङ्ग को सुनने की सार्थकता क्या है ? एक दृष्टान्त के रूप में इसे यों कह सकते हैं कि जैसे दर्पण के सामने खड़े होने पर अपने बालों को बिखरा हुआ देखकर अपने मुख की गन्दगी को देखकर उसे धोने की प्रेरणा हमें प्राप्त होती है। इसी प्रकार श्री सीताजी की खोज में जाने वाले बन्दरों में यदि कोई कमी है, तो हम और आप उसे अपनी ही कमी के रूप में देखकर, उन त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा करें, इस प्रसङ्ग का तात्पर्य यही है। यद्यपि अन्य दिशाओं में जाने वाले बन्दर तो निराश होकर लौट आए, और दक्षिण दिशा में खोज करने वाले बन्दर समुद्र के किनारे ही रुक गए। लेकिन एक समय ऐसा भी आता है कि जब असफल होकर लौटे हुए बन्दर भी लंका की ओर जाने में सफल हो जाते हैं। आगे चलकर बड़ा अनोखा प्रसङ्ग यह आता है कि प्रथम यात्रा में जहाँ एक मात्र हनुमानजी ही समुद्र को पार करने में सफल हुए वहीं दूसरी यात्रा में भगवान राम के साथ लंका की ओर सभी बन्दरों ने प्रस्थान किया। इस प्रसङ्ग में वह प्रसिद्ध दोहा तो आप लोगों ने पढ़ा हो होगा, जिसमें वर्णन आता है कि :—

सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं ।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि-चढ़ि पारहि जाहिं ।। ६।४

गोस्वामीजी कहते हैं कि समुद्र को पार करने के पश्चात् यह यात्रा समाप्त नहीं हुई, अपितु पुनः प्रारम्भ हो गई। और उस यात्रा के द्वारा समस्त

बन्दर लंका में पहुँच कर अन्त में शान्तिरूपा श्री सीताजी का साक्षात्कार करते हैं।

आगे चलकर गोस्वामीजी ने एक बड़ा ही भाव पूर्ण चित्र उपस्थित किया है, जिसमें भगवान राम ने, रावण वध के पश्चात् श्री हनुमानजी को यह आदेश दिया कि तुम जाकर जनकनन्दिनी को मेरी विजय का संदेश सुनाओ। और जब वे श्री सीताजी के समीप पहुँचते हैं, तो वहाँ पर उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि केवल बन्दरों को ही विदेहनन्दिनो की प्राप्ति नहीं हुई, अपितु लंका के राक्षस-राक्षसियाँ भी उन्हें प्राप्त कर चुके हैं। इसका प्रतीकात्मक तात्पर्य यह है कि बन्दर तो सद्‌गुणों के प्रतीक हैं, तथा राक्षस दुर्गुणों के एवं राक्षसियाँ दुर्वृत्तियों की प्रतीक मानी गयी हैं। और गोस्वामीजी इसके द्वारा यह बताना चाहते हैं कि व्यक्ति के जोवन में एक ऐसा भी अवसर आता है कि जब दुर्गुण-दुर्विचार सद्‌गुण के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

गोस्वामीजी ने संकेत किया कि, प्रभु की विजय का सन्देश लेकर जिस समय श्री हनुमानजी पहुँचे, उस समय उनके मन में इन राक्षसियों के प्रति आक्रोश था। क्योंकि जब पहली यात्रा में उन्होंने अशोक वृक्ष के नीचे श्री जानकीजी को देखा तब हनुमानजी के हृदय में यह देखकर महान कष्ट हुआ कि वहाँ पर जितनी राक्षसियाँ बैठी हुई थीं वे सभी नाना प्रकार के डरावने रूप बनाकर श्री सीताजी को डराने की चेष्टा कर रहीं थीं।

सीतहि-त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद ॥ ५।१०

और तब उन्हें लगा कि जो साक्षात् जगज्जननी को आतंकित करने की चेष्टा कर रही हैं उनको तो कठोर से कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए। पर उस समय हनुमानजी को ऐसा लगा कि इन्हें दण्ड देने का यह उचित अवसर नहीं है। यद्यपि उस समय उन्होंने राक्षसों को तो दण्ड दिया किन्तु राक्षसिय पर वे प्रहार नहीं कर पाए। लेकिन हनुमानजी राक्षसियों के द्वार श्री सीताजी को भयभीत किए जाने का वह दृश्य भूल नहीं पाते हैं। इसलिए जब दूसरी बार, हनुमानजी लंका में प्रवेश करते हैं तब उनकी दृष्टि राक्षसियों को ही खोज रही थी। किन्तु अब तो वहाँ के इस अनोखे दृश्य को देखकर हनुमानजी गद्‌गद् हो गए। क्योंकि अब तो अशोक वाटिका का दृश्य पूरी तरह परिवर्तित हो चुका है। गोस्वामीजी ने कहा कि पहली यात्रा में तो जब समस्त राक्षसियाँ अशोक वाटिका से चली गयीं तब माँ के निकट जाकर हनुमानजी ने उन्हें प्रणाम किया था। पर दूसरी यात्रा में उन्होंने देखा कि राक्षसियों की भीड़ के मध्य में श्री सीताजी विराजमान हैं। और इस दृश्य को देखकर हनुमानजी ने निकट जाने की चेष्टा नहीं की, अपितु गोस्वामीजी ने लिखा कि वे दूर से ही विदेहनन्दिनी को प्रणाम करते हैं।

दूरहि ते प्रनाम कपि कीन्हा । ६।१०६।५

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि हनुमानजी ने दूर से ही प्रणाम क्यों किया ? श्री सीताजी के निकट जाकर प्रणाम करने की चेष्टा उन्होंने क्यों नहीं की ? हनुमानजी के इस कार्य के द्वारा हमें उनके हृदय की बड़ी ही मधुर भावना का साक्षात्कार होता है। हनुमानजी ने विचार किया कि सबसे पहले तो मैं इन राक्षसियों को यहाँ से हटाऊँ, तब कहीं पास जाकर प्रणाम करूँ। किन्तु इन्हें यहाँ से हटाना उचित नहीं है, क्योंकि इस समय तो यह समस्त राक्षसियाँ अत्यन्त विनम्र होकर श्री सीताजी की सेवा में लगी हुई हैं।

सेवहिं सब निसिचरी बिनीता ।। ६।१०७।५

इसका अभिप्राय है कि जब तक यह राक्षसियाँ, मोह (रावण) के द्वारा संचालित थीं, तब तक तो यह नाना प्रकार के असद् रूप धारण करके व्यक्ति के अन्तःकरण में निवास करने वाली दुर्वृत्तियाँ थीं। किन्तु साधना का उद्देश्य है कि हमारे जीवन का मोह नष्ट होकर यह दुर्वृत्तियाँ, सद्वृत्ति के रूप में परिणत हो जाएँ। तथा यह अहंकारी वृत्तियाँ विनम्र होकर जनकनन्दिनी की सेवा में लग जाएँ। इस प्रकार यह राक्षसियाँ (दुर्वृत्तियाँ) भी श्री सीताजी को प्राप्त करने में सफल हो जाती हैं।

गोस्वामीजी ने कहा कि सीताजी को सबसे पहले जनकपुर की सखियों ने पाया, तथा सबसे अन्त में लंका की राक्षसियों ने उन्हें प्राप्त किया। इसके द्वारा वे यह बताना चाहते हैं कि भक्तिरूपा श्री सीताजी का अनोखापन यही है कि एक ओर तो उनके चारों ओर सद्वृत्ति रूपा जनकपुर की सखियाँ हैं, जो विदेहनगर में जन्म लेती हैं।

चली संग लै सखीं सयानी ।
गावत गीत मनोहर बानी ।। १।२४७।१

इसका तात्पर्य है कि श्री जानकीजी के समीप सबसे पहले पहुँचने का सौभाग्य उन्हीं को प्राप्त है जो विदेहनगर में जन्म लेने के पश्चात् भक्ति देवी को निरन्तर अनुरंजित करने की चेष्टा करती हैं। पर यदि सीताजी जनकपुर वासिनी सखियों के मध्य ही दिखाई देतीं, तब तो केवल थोड़े से लोगों के जीवन में ही उनको पाने की आशा रह जाती। लेकिन उनकी विशेषता तो यही है कि वे जनकपुर में भी परिलक्षित होती हैं और लंका में भी। जनकपुर यदि विदेहनगर है, तो लंका देहनगर। यदि एक ओर विदेहनगर में सीताजी का प्राकट्य हुआ तो दूसरी ओर वे देहनगर में भी विराजमान हैं। और अन्त में दुर्वृत्तियाँ भी उनको पाने में समर्थ हो जाती हैं। तथा उनकी सेवा करके अपने जीवन को धन्य बना लेती हैं। इतना ही नहीं, अब तो राक्षसों में भी श्री सीताजी की सेवा करने की होड़ लगी है।

आगे चलकर जब प्रभु ने विभीषणजी को यह आदेश दिया कि तुम विदेहनन्दिनी को ले आओ। तब प्रश्न आया कि श्री किशोरीजी की पालकी ढोने के लिए किसे बुलाया जाय? यद्यपि बन्दर भी पालकी ढोकर ले जा सकते थे, किन्तु संकेत यही आता है कि राक्षस ही पालकी को लेकर चलें। और पालकी को लेकर चलते समय इन राक्षसों के मन में अपार आनन्द है। वे यह विचार कर रहे हैं कि बहुत दिन तक इन कन्धों पर रावण का बोझ ढोते रहे। किन्तु आज जब साक्षात् भक्ति देवी की सेवा का सौभाग्य इन्हें प्राप्त हो रहा है, इससे बढ़कर इन कन्धों का सदुपयोग क्या होगा? और सबसे विलक्षण बात गोस्वामीजी ने यह कही कि अभी तक तो यह राक्षस अपने को निरर्थक सिद्ध करते थे। क्योंकि **राक्षस शब्द का अर्थ है "जो रक्षा करे"**, किन्तु इन्होंने तो अपने जीवन में रक्षा के स्थान पर दूसरों के विनाश का ही व्रत ले लिया था। लेकिन जब सीताजी का रक्षक बनकर उनके साथ-साथ चलने का प्रश्न आया तब इन राक्षसों को ऐसा लगा कि अभी तक तो हम लोगों ने दूसरों पर प्रहार करके उन्हें विनष्ट करने की चेष्टा की, पर यदि आज हम भक्ति देवी के रक्षक मान लिए जाएँ तो इससे बढ़कर हमारे जीवन की सार्थकता कुछ नहीं होगी। यही विचार करके राक्षस जनकनन्दिनी के साथ उनके रक्षक बनकर चले। गोस्वामीजी इसका स्पष्ट संकेत करते हुए कहते हैं कि :—

बेतपानि रच्छक चहु पासा।
चले सकल मन परम हुलासा।। ६।१०७।१

इस प्रसङ्ग पर यदि विचार करें, तो हमें ऐसा दिखाई देगा कि आज तो बड़ा अद्‌भुत मिलन हो रहा है। क्योंकि एक ओर तो पालकी की रक्षा करते हुए राक्षस चल रहे हैं, जो बड़े ही अनुशासित हैं। और दूसरी ओर हैं बन्दर, जो जानते ही नहीं कि अनुशासन किसे कहते हैं? जो चंचलता की पराकाष्ठा हैं। इनकी चंचलता पर व्यंग्य करने के लिए रामचरितमानस में एक बड़ा ही अनोखा दृष्टान्त दिया गया है। पार्वतीजी ने भगवान शंकर से कहा, महाराज! जरा यह तो बताइए कि भगवान श्रीराम की सेना में कितने बन्दर थे? तो शंकरजी ने बड़ा विचित्र सा उत्तर दिया। यद्यपि नियम तो यह है कि जिसको गणित का ठीक-ठीक ज्ञान हो, उसको बुद्धिमान कहते हैं, और जो किसी संख्या विशेष का सही पता न लगा सके, उसे मूर्ख कहा जाता है। पर शंकरजी ने कहा, पार्वती! श्रीराम की सेना के बन्दरों की संख्या मैं नहीं बताऊँगा, क्योंकि जो व्यक्ति इनकी गणना करने की चेष्टा करेगा, उसे तो केवल एक ही उपाधि मिलेगी। उन्होंने कहा कि पार्वती। वही सबसे बड़ा मूर्ख है, जो इनको गिनने का प्रयत्न करे।

बानर कटक उमा मैं देखा।
सो मूरख जो करन चह लेखा।। ४।२१।१

शंकरजी का अभिप्राय है कि गिनती करने के लिए भी तो समस्त बन्दरों को एक पंक्ति में खड़ा करना होगा। किन्तु जहाँ पर एक पल के लिए भी चैन नहीं है, जहाँ प्रतिक्षण छलाँग लग रही है, वहाँ तो गणना करने की चेष्टा करना ही सबसे बड़ी भूल होगी। इस प्रकार भगवान शंकर इन बन्दरों की चंचलता पर कटाक्ष करते हैं। और इन चंचल बन्दरों ने जब यह सुना कि जिन विदेहनन्दिनी की खोज में हमलोग न जाने कहाँ-कहाँ भटके, किन्तु फिर भी उनका दर्शन नहीं हुआ था। तथा जिनको पाने के लिए इतना बड़ा युद्ध लड़ा गया, वही जनकनन्दिनी आ रही हैं, तब इनमें श्री सीताजी का दर्शन करने की अत्यन्त व्यग्रता आ गई। तथा यह बन्दर पालकी का पर्दा उठाने की चेष्टा करने लगे। और तब वहाँ पर एक नया दृश्य यह उपस्थित हो गया कि जो राक्षस बेंत लेकर पालकी की रक्षा करते हुए चल रहे थे, वे लोग बन्दरों के इस व्यवहार से क्षुब्ध होकर उन्हें मारने दौड़े।

रच्छक कोपि निवारन धाए।। ६।१०७।१०

किसी जिज्ञासु ने गोस्वामीजी से पूछा कि इन राक्षसों में इतनी निर्भयता कहाँ से आ गई? क्योंकि यह लोग तो बन्दरों के भय से सर्वदा भयभीत रहते थे। रामचरितमानस में भी इसका संकेत करते हुए यही कहा गया है कि :—

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका।
जब ते जारि गयउ कपि लंका।।
निज निज गृह सब करहिं बिचारा।
नहि निसिचर कुल केर उबारा।। ५।३५।२

गोस्वामीजी ने कहा कि जबसे हनुमानजी लंका को जलाकर आए हैं, तब से प्रत्येक राक्षस यही कहता है कि अब तो राक्षसों का विनाश अवश्यम्भावी है। और इसी भय का लाभ आगे चलकर अंगद को मिला। जब अंगदजी लंका में पहुँचे, तब इन राक्षसों ने उनका बड़ा स्वागत किया। यह लोग बिना पूछे ही अंगद को मार्ग बता रहे थे। किसी श्रोता ने तुलसीदासजी से पूछा कि यह लोग इतने सभ्य कैसे हो गए, तो उन्होंने कहा कि अंगद का स्वागत यह लोग सभ्यता के कारण नहीं कर रहे हैं, अपितु उसके पीछे भी भय की वृत्ति ही विद्यमान है। क्योंकि अंगद को देखकर इन राक्षसों को यही लगा कि :—

आवा कपि लंका जेहि जारी। ६।१७।८

वे हनुमानजी तथा अंगद में भेद तो कर नहीं पाते हैं, बल्कि भय के कारण अंगद को ही हनुमान समझकर उनका आदर करते हैं। इसका

अभिप्राय है कि लंका के राक्षस बन्दरों से सर्वदा घबराते थे। तथा आज तो उन्हें और भी आतंकित होना चाहिए था क्योंकि जब रावण के रहते हुए वे लोग इतने भयभीत थे, तब अब तो लंकाधिपति रावण मारा जा चुका है, लंकापुरी अनाथ हो चुकी है। लेकिन इस समय तो राक्षसों के मन में आतंक का लेश भी नहीं है। अपितु नई बात यह दिखाई दी कि राक्षस बन्दरों को पीछे की ओर धकेलने लगे। राक्षसों का अभिप्राय था कि हमारे यहाँ तो अहंकार रूपी कुम्भकरण तथा मोह रूपी रावण का विनाश हो गया तो हम लोग भक्ति देवी श्री सीता के समीप पहुँच गए, पर आपलोगों में शायद अपनी साधना का थोड़ा-सा अभिमान अभी शेष होगा, इसलिए श्री सीताजी का साक्षात्कार करने में आपको अभी कुछ विलम्ब लगेगा। और प्रभु ने जब इस दृश्य को देखा, तो भगवान श्रीराम इन बन्दरों पर करुणा की वर्षा करते हुए विभीषण से कहते हैं कि तुम सीताजी को जिस प्रकार ला रहे हो, वह उचित नहीं है। मैं तो यह चाहता हूँ कि तुम उन्हें पालकी से उतार कर पैदल ले आओ। प्रभु ने कहा मित्र ! जिन बन्दरों ने श्री सीताजी को खोजने के लिए हजारों मील की पैदल यात्रा की। अगर उन बन्दरों को दर्शन देने के लिए सीताजी दस कदम भी पैदल नहीं चलेंगी, तो फिर उनमें करुणा का पक्ष प्रवल कैसे माना जाएगा ? भगवान श्री राघवेन्द्र का अभिप्राय था कि व्यक्ति को अपना चरम लक्ष्य प्राप्त करने के उपाय तो दो ही हैं। या तो साधक अपनी साधना के द्वारा ऊपर उठे अथवा भगवान और भक्ति ही कृपा करके ऊपर से नीचे उतारें। किन्तु इस समय तो उचित यही है कि इन बन्दरों को दर्शन देने के लिए सीताजी कृपा करके अपनी पालकी से उतर कर नीचे आएँ। भगवान श्रीराम ने कहा कि अब माता और बेटे के बीच में किसी आवरण की आवश्यकता नहीं है।

कह रघुबीर कहा मम मानहु ।
सीतहि सखा पयादें आनहु ।।
देखहुं कपि जननी की नाईं । ६।१०७।१२

प्रभु का तात्पर्य था कि जब दुर्गुण-दुर्विचार तथा दुर्वृत्तियों ने श्री सीताजी को प्राप्त कर लिया तो फिर सद्गुण पीछे क्यों रहें। भले ही अभी तक उनको विलम्ब लगा हो किन्तु अब माँ और पुत्र के बीच में कोई अन्तराल अथवा व्यवधान नहीं होना चाहिए। भगवान श्री राघवेन्द्र के इस वाक्य का परिणाम यह हुआ कि जब श्री सीताजी पालकी से उतर कर चलती हैं तब समस्त बन्दर श्री सीताजी का साक्षात्कार करके धन्य हो जाते हैं। इस प्रसङ्ग के द्वारा गोस्वामीजी ने मानो यह बताया कि हमें यह समझकर निष्क्रिय नहीं हो जाना चाहिए कि जब हमें विदेहनन्दिनी प्राप्त हो ही नहीं सकतीं तो फिर हमें

साधना करने की क्या आवश्यकता है ? अपितु अपनी ओर से तो यथासम्भव प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

इस रामचरितमानस के दर्पण में यदि हम यह देखने की चेष्टा करें कि अगर इतिहास (त्रेतायुग) के कुछ पात्रों को विदेहनन्दिनी की प्राप्ति में इतना विलम्ब लगा तो उनमें कौन सी कमियाँ थीं तथा जिस पात्र ने जनकनन्दिनी का साक्षात्कार किया, उन श्री हनुमानजी में क्या विशेषताएँ थी ? अन्य बन्दर जो इतनी लम्बी यात्रा के पश्चात् भी समुद्र के किनारे रुक जाते हैं, और हनुमान जी, श्री सीताजी का साक्षात्कार करने में सफल हो जाते हैं, इस सम्बन्ध में कुछ सूत्र देते हुए गोस्वामीजी ने लिखा कि बन्दरों को श्री सीताजी की खोज में भेजते समय सुग्रीव ने हनुमानजी से कहा कि आप इन बन्दरों को आदेश दे दीजिए कि जो बन्दर जनकनन्दिनी का पता लगाकर अथवा बिना पता लगाए ही पन्द्रह दिन में लौटकर आ जाएगा, उसे तो प्राण-दण्ड नहीं दिया जाएगा। तथा पन्द्रह दिन व्यतीत हो जाने के बाद जनकनन्दिनी का दर्शन करके जो लौटेगा, उसको पुरस्कृत किया जाएगा। किन्तु समय की अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् भी जो श्री सीताजी का पता बिना लगाए लौटेगा, उसको अवश्य ही मृत्यु दण्ड दिया जाएगा। सुग्रीवजी का वाक्य यही है कि :—

कहहु पाख महुं आव न जोई।
मोरें कर ताकर बध होई॥ ४।१८।५

सुग्रीवजी का समय की सीमा के प्रति आग्रह सर्वथा स्वाभाविक है। वे स्वयं, भुक्त भोगी थे और अपनी दुर्बलताओं का अनुभव कर चुके थे। किष्किन्धा का राज्य देते समय भगवान ने यह स्मरण दिलाया था कि राज-काज, चलाते हुए भी वे इसका सर्वदा ध्यान रखें कि उन्हें विदेहनन्दिनी सीता का पता लगाना है।

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू।
संतत हृदय धरेहु मम काजू॥ ४।११।९

किन्तु प्रभु ने जनकनन्दिनी का पता लगाने के लिए कोई अवधि निर्धारित नहीं की थी। भगवान श्रीराम के द्वारा समय की सीमा निर्धारित न करना भी स्वाभाविक था, यह साधक के विवेक पर विश्वास की अभिव्यक्ति थी। यह तो साधक के लिए स्वाभाविक ही होना चाहिए कि वह शीघ्र से शीघ्र अपने जीवन के महान लक्ष्य को पाने की चेष्टा करे। किन्तु भगवान राम के द्वारा दी गई इस छूट का वैसा परिणाम नहीं हुआ, जैसा होना चाहिए था। समय की अवधि के अभाव में निष्क्रियता का संचार हो गया। वे स्वयं को भुलावा देने लगे। जब कभी भी उन्हें जनकनन्दिनी का पता लगाने की बात

याद आई, तो उन्होंने स्वयं को धोखा देते हुए यह सोच लिया कि अभी तत्काल उनका पता लगाने की क्या जल्दी है, फिर कभी पता लगा लेंगे। उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम निष्क्रियता के रूप में सामने आता है। वास्तविक साधक स्वयं शीघ्र से शीघ्र अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए व्यग्र होता है। किन्तु ऐसा साधक जो बुद्धि के द्वारा लक्ष्य के प्रति आकर्षण का अनुभव करता हुआ भी मन की विषयासक्ति के कारण विषयों को छोड़ पाने में समर्थ नहीं होता। सुग्रीव इसी प्रकार के साधक थे। उनमें तीव्र विषयासक्ति विद्यमान थी, इसीलिए वे स्वयं अपने विवेक से भक्ति की खोज में प्रवृत्त नहीं हुए। उनको लक्ष्य की ओर प्रेरित करने के लिए प्रभु को उनमें भय की वृत्ति उत्पन्न करनी पड़ी। उन्हें लक्ष्मणजी से यह कहना पड़ा कि सुग्रीव के जीवन में यदि विवेक युक्त स्नेह नहीं है तो उनमें भय जन्य प्रीति की सृष्टि करनी होगी।

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय दिखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ॥ ४।१८

प्रभु का यह उपाय सफल रहा। स्वयं आञ्जनेय ने सुग्रीव में भय की सृष्टि की और तभी वे लक्ष्य की ओर जागरूक हुए।

अपने अनुभव से लाभ उठाते हुए उन्होंने भी बन्दरों के प्रति भय के मनोवैज्ञानिक उपाय का प्रयोग किया। उनको भय की यह औषधि बड़ी उपयोगी प्रतीत हुई। इसीलिए उन्होंने बन्दरों के लिए भी इस औषधि का प्रयोग किया। गोस्वामीजी ने इस प्रसङ्ग को भय, नीति और प्रीति की सम्मिलित पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया।

भय अरु प्रीति नीति देखराई।
चले सकल चरनन्हि सिर नाई ॥ ४।१८।७

अवधि देने का उद्देश्य बन्दरों को शीघ्र से शीघ्र लक्ष्य की दिशा में प्रेरित करना था। अवधि व्यतीत होने के बाद असफल लौटने पर मृत्यु दण्ड की बात भय उत्पन्न करने के लिए थी। पर इन सबका उद्देश्य जीवन में परम सत्य का साक्षात्कार कराना ही था। अवधि देने में यदि नीति थी तो लक्ष्य की दिशा में प्रेरित करने में प्रीति थी। मृत्यु दण्ड के द्वारा भय की सृष्टि की गई थी। सर्वश्रेष्ठ साधक प्रीति की प्रेरणा से आगे बढ़ता है। मध्यम श्रेणी का साधक नीति से सञ्चालित होता है, पर तृतीय श्रेणी का साधक तो बिना भय के कोई कार्य करता ही नहीं है। बन्दरों में भी हर श्रेणी के साधक विद्यमान थे, अतः उन सभी को दृष्टिगत रखकर "**भय अरु प्रीति नीति देखराई**" का उपयोग किया गया। इन बन्दरों को विदा करते हुए सुग्रीव ने बड़ा ही प्रेरक भाषण दिया। सुग्रीवजी प्रारम्भ में भले ही वासना के मेघ से

आवृत हो गए हों पर बाद में पवननन्दन के प्रहार से वे मेघ छिन्न-भिन्न हो हो गए और ज्ञान (सुग्रीव) का प्रकाश अपने सहज रूप में दिखाई देने लगा। सुग्रीव के उद्‌बोधक वाक्यों को इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है।

सुनहु नील अंगद हनुमाना। जामवंत मतिधीर सुजाना।।
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीता सुधि पूँछेहु सब काहू।।
मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचन्द्र कर काज सँवारेहु।।
भानु पीठिसेअइ उर आगी। स्वामिहि सर्वभाव छल त्यागी।।
तजि माया सेइअ परलोका। मिटहिं सकल भव संभव सोका।।
देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई।।
सोइ गुनग्य सोई बड़ भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी।।
आयसु मागि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई।।
४।२२।८

दक्षिण दिशा में जिन बन्दरों को भेजा गया था वे किष्किन्धा के सर्वश्रेष्ठ योद्धा थे। दक्षिण दिशा का एक प्रतीकात्मक तात्पर्य भी है। एक ओर जहाँ भौतिक दृष्टि से लंकाधिपति रावण का दुर्ग दक्षिण दिशा में था, वहीं आधि-दैविक अर्थों में दक्षिण दिशा मृत्युदेवता यम की भी दिशा है। यम की दिशा में विदेहनन्दिनी की खोज अपने आप में मृत्यु भय से मुक्त व्यक्ति के लिए ही सम्भव है। जो प्रतिक्षण मृत्यु से भयभीत है वह न तो शान्ति का अधिकारी है और न ही भक्ति का। इस यात्रा में बन्दरों के समक्ष कई बार मृत्यु भय उपस्थित होता है, पर बन्दर किसी न किसी उपाय से उस पर विजय पा लेते हैं। विशेष रूप से उनके समक्ष दो बार मृत्यु भय उपस्थित होता है। एक बार वे प्यास के मारे मरने लगे थे, उस समय उनकी समस्या का समाधान आञ्जनेय ने किया।

मन हनुमान कीन्ह अनुमाना।
मरन चहत सब बिनु जलपाना।। ४।२३।४

कभी-कभी ऐसा भी होता है जब साधक स्वयं तो मृत्यु का विजेता समझने की भूल कर बैठता है। पर उस समय भी मृत्यु के भय का संस्कार हृदय में कहीं-कहीं विद्यमान रहता है। दक्षिण दिशा में जाने वाले बन्दर अप्रतिम योद्धा थे। दक्षिण दिशा की ओर चलने में उन्हें प्रारम्भ में तो कोई हिचकिचाहट नहीं हुई, पर सम्पाती का स्वर सुनते ही भय की छिपी हुई वृत्ति सामने आ गई। बन्दरों के भय के पीछे एक कारण और भी था। यों तो व्यक्ति स्वयं को पूरी तरह सुरक्षित रखना चाहता है, पर यदि यह सम्भव न हो तो वह चाहता है कि मृत्यु के बाद मेरे शरीर की दुर्गति न हो। इन बन्दरों के समक्ष मृत्यु की विभीषिका तो थी ही, किन्तु सम्पाती का आगमन

और भी दुखदायी सिद्ध हुआ। क्योंकि अब उन्हें लगने लगा कि मृत्यु के बाद हमारे शरीर को गीध खा जाएगा। इस प्रकार वे दुहरे भय से आक्रान्त हो गए। ऐसी मनःस्थिति में अंगद के स्वर ने उन्हें उबार लिया। उस समय अंगद के द्वारा जटायु का स्मरण किया गया।

कह अंगद बिचारि मन माहीं।
धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।।
राम काज कारण तनु त्यागी।
हरिपुर गयउ परम बड़भागी।। ४।२६।८

यह बन्दरों के लिये महान उद्बोधन था। "मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, पर उस मृत्यु को भी सार्थकता प्रदान की जा सकती है। एक बूढ़े गीध जटायु ने मृत्यु की इस सार्थकता के द्वारा स्वयं को धन्य बना लिया। जिस गीध को अन्तिम क्षणों में प्रभु की गोदी प्राप्त हुई, जिसे गोद में लेकर स्वयं प्रभु ने आँसू बहाए हों उससे बढ़कर सौभाग्य किसका होगा ? ऐसा इसीलिए तो हुआ कि गीध ने एक महान उद्देश्य के लिए स्वयं का बलिदान कर दिया। वह उद्देश्य था विदेहनन्दिनी सीता की रक्षा। यदि हम सब उन्हीं सीताजी की रक्षा के लिए मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं, तो हमारा जीवन भी उन्हीं जटायु की तरह सार्थक होगा। हमें इसकी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि हम अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में सफल नहीं हुए और उसके पहले मरना पड़ रहा है, क्योंकि उद्देश्य की पूर्ति ही सब कुछ नहीं है। किसी उद्देश्य के लिए स्वयं को समर्पित कर देना ही महत्त्वपूर्ण है। वैसे तो जटायु भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए। वे विदेहनन्दिनी को रावण से नहीं बचा पाए किन्तु फिर भी उनकी धन्यता में किसी को सन्देह नहीं है। यही स्थिति हम लोगों की है। हम सब जनकनन्दिनी की खोज में चले और पूरा प्रयत्न करने पर भी उन्हें खोज नहीं पाए। और ऐसा लगता है कि अब मृत्यु का क्षण आ पहुँचा है। एक पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए यदि हमलोगों के जीवन का बलिदान हो जाता है, तो हमलोग भी गीधराज जटायु की श्रेणी में पहुँच जाएँगे। अंगद की इस सांकेतिक वाणी से बन्दरों का खोया हुआ धैर्य लौट आया। जीवन ही नहीं, मृत्यु में भी उन्हें सार्थकता की अनुभूति होने लगी।

दूसरी ओर सम्पाती पर अंगद की वाणी का दूसरा ही प्रभाव पड़ा। उसे इसमें स्वयं के प्रति धिक्कार की अनुभूति हुई। उसे लगा कि मानो अंगद यह कह रहा है कि बूढ़े गीध, तुम्हारे जीवन को धिक्कार है। कहाँ तुम्हारी ही जाति के जटायु, जिन्होंने विदेहनन्दिनी की रक्षा में प्राण दे दिए, और एक तुम हो जो जनकनन्दिनी की खोज में लगे हुए लोगों को खा जाना चाहते हो। इस तरह अंगद की विचारयुक्त वाणी से जहाँ मृत्यु भय से मुक्ति मिली, वहाँ

आसन्न मृत्यु संकट भी टल गया। इस तरह इस यात्रा पथ में दो बार बन्दरों के प्राण की रक्षा होती है। एक बार हनुमानजी के द्वारा और दूसरी बार अंगद के द्वारा। इसे यों भी कह सकते हैं कि एक बार वे विश्वास की कृपा से बचे तो दूसरी बार विचार के माध्यम से उनकी रक्षा हुई। विश्वास और विचार दोनों साधन पथ के पाथेय और रक्षक हैं।

इस यात्रा में बन्दरों को दो गुफाओं का अनुभव होता है। एक गुफा में स्वयंप्रभा का साक्षात्कार होता है, तो दूसरी गुफा में सम्पाती बैठा हुआ था।

एहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती।
गिरि कन्दराँ सुनी संपाती ॥ ४।२६।१

प्रारम्भ में दोनों गुफाओं का स्वर एक दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। एक में बन्दरों को फल खाने का आमन्त्रण मिला।

तेहिं तब कहा करहु जल पाना।
खाहु सुरस सुन्दर फल नाना ॥ ४।२४।२

तो दूसरी गुफा से उन्हें स्वयं के खाए जाने का स्वर सुनाई दिया।

आजु सबहि कहँ भच्छन करऊँ।
दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ ॥ ४।२६।३

किन्तु आगे चल कर पता चला कि इस बहिरङ्ग भिन्नता में भी एकता का रहस्य छिपा हुआ है। अन्त में स्वयंप्रभा और संपाती दोनों ही विदेहनन्दिनी की खोज में सहायक बने। जीवन और मृत्यु, अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में साधक एक ही सत्य का साक्षात्कार करता है। स्वयंप्रभा और संपाती के उपदेशों में भी भिन्नता दिखाई देती है। स्वयंप्रभा की गुफा में उन्हें नेत्र मूंदने का संकेत मिला था।

मूदहु नयन बिबर तजि जाहू।
पैहहु सीतहि जनि पछिताहू ॥ ४।२४।५

संपाती ने उन्हें आँखें खोलकर सामने देखने के लिए कहा, उसे समुद्र के बीच लंका की अशोक वाटिका में विदेहनन्दिनी बैठी हुई दिखाई दे रही थीं। उसने बन्दरों का ध्यान आकृष्ट करते हुए उन्हें दिखाया "वह है समुद्र के बीच में रावण की अगम्य लंका जहाँ अशोक वाटिका में शोक मग्न सीता बैठी हुई हैं"। इस प्रकार नेत्र मूंदने और खोलने में विरोधाभास जैसा प्रतीत होता है, पर दोनों प्रसंग एक दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर पूरक हैं। इन दोनों प्रसंगों में निहित संकेतों को हृदयंगम करने के लिए इन पर विस्तार से विचार की अपेक्षा है, कल की कथा में इन्हें और भी सुस्पष्ट करने की चेष्टा की जाएगी, आज इतना ही।

बोलिए सियाबर रामचन्द्र की जय।

श्री रामः शरणं मम

नवम प्रवचन

मन संतोष सुनत कपि बानी ।
भगति प्रताप तेज बल सानी ।।
आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना ।
होहु तात बल सील निधाना ।।
अजर अमर गुननिधि सुत होहू ।
करहुँ बहुत रघुनायक छोहू ।।
करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना ।
निर्भर प्रेम मगन हनुमाना ।।
बार बार नाएसि पद सीसा ।
बोला बचन जोरि कर कीसा ।।
अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता ।
आसिष तव अमोघ बिख्याता ।।
सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा ।
लागि देखि सुन्दर फल रूखा ।।
सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी ।
परम सुभट रजनीचर भारी ।।
तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं ।
जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं ।।

देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकीं जाहु ।
रघुपति चरन हृदयँ धरि तात मधुर फल खाहु ।। ५।१७

भगवान श्री राघवेन्द्र की असीम अनुकम्पा से "**संगीत कला मन्दिर ट्रस्ट तथा संगीत कला मन्दिर**" द्वारा आयोजित यह प्रवचन-यज्ञ आज समाप्ति की ओर है। गत बाइस वर्षों से अनवरत यह श्रृंखला चल रही है। तथा इस वर्ष भी उसी परम्परा के अनुकूल "श्री रमणलालजी बिन्नानी" द्वारा भेजा गया आमन्त्रण मुझे श्री हनुमानजी के जन्मोत्सव के समय प्राप्त हुआ। यद्यपि प्रारम्भ में तो ऐसा लगता था कि इस वर्ष यह कार्यक्रम दो दिन कम करना होगा। सम्भवत: चुनाव को दृष्टिगत रखकर यह परिवर्तन करने की बात सोची जा रही थी। लेकिन भगवान की कृपा से किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आया और यह आयोजन सम्पूर्ण हुआ। इस अवसर पर हम विशेष रूप से श्री बसन्त कुमारजी बिरला तथा सौजन्यमयी श्रीमती सरलाजी बिरला का स्मरण करते हैं, जिनकी श्रद्धा और प्रीति निरन्तर इस ओर चैतन्य रहती है और वे सजग रूप से ऐसे आयोजनों के द्वारा स्वयं अपने तथा जनता के लिए भगवच्चरित्र का स्वरूप सुलभ कराते हैं। तत्पश्चात् मैं संगीत कला मन्दिर के अध्यक्ष श्री प्रदीपजी डागा तथा सोमाणीजी एवं अन्य समस्त अधिकारीगणों के प्रति अपनी कृतज्ञता और धन्यवाद का ज्ञापन करता हूँ, जिन लोगों ने बड़े मनोयोग से संरक्षण सहित इस आयोजन को संचालित किया है। बिन्नानीजी मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह रखते हैं। वे बड़े ही भावमय शब्दों में अपने हृदय का उद्गार प्रकट करते हैं। उनके वाक्यों में निहित जो प्रशंसा होती है, वह केवल इस अर्थ में सही है कि एक यंत्र के रूप में प्रभु, मुझे माध्यम बनाकर जो कुछ कहलाते हैं, वही आपके सामने कहा जाता है। यह मेरे मनन अथवा चिन्तन का परिणाम नहीं है। अन्त में आप सब श्रोताओं के के प्रति भी हम अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं, जिन्होंने अत्यन्त श्रद्धा तथा प्रेम से भगवत् चरित्र श्रवण किया।

अब आइए, आज समापन के समय का सर्वश्रेष्ठ सदुपयोग करने की हम और आप चेष्टा करें। आपके सामने नित्य जो पंक्तियाँ पढ़ी जाती थीं, वे पंक्तियाँ आज नहीं पढ़ी गयीं, क्योंकि वस्तुत: वे पंक्तियाँ यात्रा के प्रारम्भ की पंक्तियाँ थीं, जहाँ से विदेहनन्दिनी की खोज का क्रम प्रारम्भ होता है, और उन सारी पंक्तियों की व्याख्या करके क्रमश: मैं इन अन्तिम पंक्तियों तक पहुँच सकूँ, यह क्षमता मेरे लिए शायद दो चार वर्ष मैं लगातार कहता रहूँ तो भी सम्भव नहीं है। इसलिए इन नौ दिनों में जो सूत्रात्मक बातें आपके सामने कही गईं आज उनके अन्तिम स्वरूप पर थोड़ी सी दृष्टि डाली जाएगी। आप कृपया एकाग्र तथा शान्त रहकर उसे हृदयंगम करने की चेष्टा करें। प्रारम्भ में जो पंक्तियाँ आज मैंने पढ़ी हैं, उनमें गोस्वामीजी ने यह बताया है कि जगज्जननी श्री सीता का अमोघ आशीर्वाद प्राप्त करके श्री हनुमानजी

महाराज अपने जीवन में धन्यता तथा कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं, और उसके पश्चात् माँ के आदेश से अशोक-वाटिका के फल खाकर उन्हें दिव्य तृप्ति की अनुभूति होती है।

आज का प्रवचन प्रारम्भ करने के पूर्व मैं आपको एक सूत्र दे रहा हूँ, तथा आप लोग उसे ध्यान में रखेंगे। जैसा कि प्रथम संकेत किया गया था कि रामचरितमानस केवल भूतकाल का ही सत्य नहीं, अपितु उसकी विलक्षणता यही है कि जितना वह भूतकाल का सत्य है, उतना ही वर्तमान का। और विदेहनन्दिनी के अन्वेषण का जो चित्र गोस्वामीजी ने उपस्थित किया है, वह तो हमारे आपके जीवन का शाश्वत् चित्र है। बन्दरों के द्वारा जो यात्रा प्रारम्भ की जाती है, उसमें हम-आप सभी लोग सम्मिलित हैं। तुलसीदास जी का तात्पर्य है कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति श्री सीताजी की खोज में लगा हुआ है, किन्तु उसकी दृष्टि अलग-अलग है। वेदान्त की भाषा में श्री सीताजी शान्ति स्वरूपा हैं। भक्तों ने उन्हें साक्षात् भक्ति के रूप में देखा। पुराणों ने भगवती महालक्ष्मी के रूप में इनकी वन्दना की, तथा कर्मयोगी उन्हें महाशक्ति के रूप में पहचानते हैं। इसका अभिप्राय है कि कुछ व्यक्ति उन्हें शान्ति के रूप में प्राप्त करना चाहते हैं, कुछ भक्ति अथवा शक्ति के रूप में, तो कुछ महालक्ष्मी के रूप में। किन्तु प्रश्न यह है कि वे श्री सीताजी हमें प्राप्त कहाँ होंगी ?

भौतिक दृष्टि से अगर देखा जाए तो विदेहनन्दिनी का साक्षात्कार जनकपुर में भी हो सकता है, अयोध्या में भी उनका दर्शन होता है, और कुछ भक्त तो जनकनन्दिनी का साक्षात्कार चित्रकूट में भी करते हैं। जनकपुर वासियों ने श्री जानकीजी को पुत्री के रूप में प्राप्त किया। अयोध्यावासी उन्हें पुत्रवधू के रूप में देखते हैं तथा चित्रकूट के निवासी कोल-भील उन्हें वात्सल्यमयी माँ के रूप में प्राप्त करके धन्यता का अनुभव करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करके देखें तो हमें ऐसा प्रतीत होगा कि यह तीनों स्थान विविध प्रकार के अन्तःकरण के प्रतीक हैं। कुछ लोगों का अन्तः-करण जनकपुर के समान है, विदेहनगर की भाँति है। इसका अभिप्राय है कि जो लोग देहाभिमान से ऊपर उठे हुए हैं, उन्हें सीताजी का दर्शन होना शान्ति, भक्ति अथवा महाशक्ति को प्राप्त करना सरल है।

दूसरी ओर धर्म की पवित्रतम भूमि है अयोध्या, जहाँ पर यज्ञ की परम्परा का सर्वोत्कृष्ट पालन दिखाई देता है। जहाँ यज्ञ के माध्यम से भगवान को प्राप्त किया जाता है, तथा यज्ञ (धनुष यज्ञ) के माध्यम से ही जनकनन्दिनी अयोध्या में पधारती हैं। इसका तात्पर्य है कि जिन लोगों का अन्तःकरण अयोध्या यज्ञ भूमि (पवित्र स्थल) है वे भी शान्ति तथा भक्ति

का साक्षात्कार कर लेते हैं। और चित्रकूट की भूमि का तो कहना ही क्या, यह भूमि तो अयोध्या तथा जनकपुर की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। यहाँ के आनन्द और रस को प्राप्त करके तो भगवान राम, श्री सीता और श्री लक्ष्मणजी अयोध्या को भी भूल जाते हैं। इसका संकेत करते हुए गोस्वामीजी गीतावली में कहते हैं कि :—

क्यों कहौं चित्रकूट गिरि संपति महिमा मोद मनोहरताई।
तुलसी जहँ बसि लखन राम सिय आनंद अवधि-अवध बिसराई॥
गीतावली २।४६

चित्रकूट की भूमि सर्वथा चित्त वृत्ति के निरोध तथा प्रेम की भूमि है जहाँ पर चारों ओर रस और प्रेम का समुद्र ही उमड़ रहा है।

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा।
प्रेम भरा मन निज गति छूँछा॥ २।२४१।७

इसलिए गोस्वामीजी "प्रेम" शब्द की जितनी पुनरावृत्ति चित्रकूट में करते हैं, उतनी अन्यत्र कहीं करते हुए नहीं दिखाई देते हैं। तुलसीदासजी से किसी ने जिज्ञासा की कि लक्ष्मणजी ने विना देखे कैसे जान लिया कि श्री भरत ही प्रभु को प्रणाम कर रहे हैं। तो उन्होंने उत्तर देते हुए कहा कि :—

बचन सपेम लखन पहिचाने।
करत प्रनामु भरत जियँ जाने॥ २।२३९।३

और पहिचान कर भगवान राम को सूचना कैसे देते हैं?

कहत सप्रेम नाइ महि माथा।
भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥ २।२३९।७

जो श्री भरत प्रणाम कर रहे हैं उनका क्या स्वरूप है?

भरतहि कहहिं सराहि सराही।
राम प्रेम मूरति तनु आही॥ २।१८३।४

तथा जिन्हें सूचना दी गई उन श्रीराम की क्या स्थिति है?

उठे रामु सुनि पेम अधीरा। २।२३९।८

गोस्वामीजी ने कहा कि साक्षात् ईश्वर भी जहाँ प्रेम में अधीर हो चुका है, जहाँ पर सभी लोग एक दिव्य रस में डूबे हुए हों, उस प्रेम-भूमि में श्री सीताजी की कृपा प्राप्त करके श्री भरतजी धन्यता का अनुभव करते हैं। इसका अभिप्राय है कि यदि हमारा अन्तःकरण जनकपुर की तरह ज्ञान भूमि है तो भी हमारे जीवन में शान्ति तथा ईश्वर की प्राप्ति सरल है। अगर हमारा अन्तःकरण अयोध्या के समान धर्म प्रधान है तब भी हमारे हृदय में भक्ति और भगवान का प्रेममय मिलन हो सकता है। तथा हमारा अन्तःकरण यदि चित्रकूट की तरह निवृत्ति की भूमि है, प्रेम रस की भूमि है, तब तो उस भूमि में भक्ति और भगवान की प्राप्ति अत्यन्त सरल है।

तुलसीदासजी कहते हैं कि भई ! जनकपुर, अयोध्या तथा चित्रकूट में तो जनकनन्दिनी की प्राप्ति सरल है। लेकिन हनुमानजी को जो काम सौंपा गया वह अत्यन्त कठिन होते हुए भी हमलोगों के लिए बड़े काम का है। क्योंकि हनुमानजी को श्री सीताजी का साक्षात्कार ज्ञान, धर्म अथवा प्रेम की भूमि में नहीं करना है, अपितु उन्हें तो श्री किशोरीजी का दर्शन उस लंका में करना है जिसका आध्यात्मिक स्वरूप बताते हुए गोस्वामीजी विनय पत्रिका में कहते हैं कि व्यक्ति के अन्तःकरण में रहने वाली नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ ही लंका दुर्ग है।

वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग, रचितमन दनुजमय रूप धारी।

विनय पत्रिका -५८

यह प्रवृत्ति भी ऐसी है, जिस पर मोह रूपी रावण का शासन है। यहाँ का दृश्य तो चित्रकूट से बिल्कुल उलटा है। चित्रकूट में प्रवेश करने पर श्री भरत को ऐसा लगा कि वहाँ पर मोह पराजित हो चुका है तथा विवेक का राज्य स्थापित हो गया है, और चारों ओर सुख-सम्पति की वर्षा हो रही है। गोस्वामीजी राम चरित-मानस में स्पष्ट कह देते हैं कि :—

जीति मोह महिपालु दल सहित विवेक भुआलु।
करत अकंटक राज पुरँ सुख संपदा सुकालु ॥ २।२३५

ऐसी दिव्य भूमि है चित्रकूट की। लेकिन दूसरी ओर लंका की भूमि है, जहाँ पर मोह (रावण) का शासन है, तथा अहंकार (कुम्भकर्ण) का आतंक फैला हुआ है, और जहाँ पर काम रूप मेघनाद अपने बल के द्वारा सारे संसार को वशीभूत किए हुए है। पर प्रश्न तो यह है कि इस प्रवृत्ति (लंका) में विदेहनन्दिनी को पाया जा सकता है कि नहीं ? इस अहंकार की भूमि में उन्हें प्राप्त किया जा सकता है अथवा नहीं ? इस प्रश्न पर यदि आप विचार करें तो आपको यह अनुभव होगा कि श्री हनुमानजी का कार्य कितना कठिन था। इसीलिए रामचरितमानस में हनुमानजी की महिमा सर्वोत्कृष्ट रूप से गाई गई है। इस प्रश्न पर विचार करने पर आपको कुछ अनोखे सूत्र प्राप्त होंगे।

चित्रकूट में श्री भरत विदेहनन्दिनी का साक्षात्कार करते हैं तथा लंका में श्री हनुमानजी। श्री भरत गृहस्थ हैं तो हनुमानजी बाल ब्रह्मचारी। गृहस्थ प्रवृति को स्वीकार करता है और ब्रह्मचारी निवृत्ति को। इसका अभिप्राय है कि प्रवृत्ति परायण महापुरुष ने निवृत्ति की भूमि (चित्रकूट) में भगवान को प्राप्त किया। और निवृत्ति मार्ग के अनुयायी श्री हनुमानजी महाराज ने प्रवृत्ति की लंका में श्री सीताजी को खोज लिया। इस प्रकार दोनों पक्ष बड़े अद्भुत हैं। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्री हनुमानजी की यात्रा जितनी कठिन है, उतनी कठिन जनकपुर अथवा चित्रकूट की यात्रा नहीं है। निवृत्ति

मार्ग के द्वारा शान्ति भक्ति अथवा शक्ति को प्राप्त करना तो सरल है, पर यदि हम प्रवृत्ति में रहकर भी शान्ति को पाना चाहें तो हमें किस साधन पद्धति के द्वारा आगे बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिए, जिसका आश्रय लेकर हम जीवन में शान्ति को प्राप्त कर सकें। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए हमें भी इस यात्रा में श्री हनुमानजी का अनुगमन करना होगा।

आज का प्रसङ्ग प्रारम्भ हो रहा है स्वयंप्रभा की गुफा से। जनकनन्दिनी की खोज करते-करते जब समस्त बन्दर मार्ग भटक गए, तथा भूख प्यास के कारण मरने की स्थिति में पहुँच गए तब श्री हनुमानजी के द्वारा उनको एक ऐसी गुफा का ज्ञान होता है, जिसमें एक दिव्य तपस्विनी बैठी हुई हैं। और समस्त बन्दर हनुमानजी के नेतृत्व में उस गुफा में प्रवेश करते हैं। स्वयंप्रभा की यह गुफा वस्तुतः भगवत्कृपा की प्रतीक है। इसका तात्पर्य है कि साधक जब साधना करते-करते थक जाता है, तब भगवान की मङ्गलमयी अनुकम्पा का साक्षात्कार होता है। किन्तु इस गुफा में प्रवेश पाना सरल नहीं है। क्योंकि इसमें बाहर से न तो जल दिखाई देता है और न ही प्रकाश। इसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं जब भगवान की कृपा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती है, केवल अन्धकार की ही अनुभूति होती है। लेकिन जब कभी जीवन में ऐसी अनुभूति होती हो, उस समय श्री हनुमानजी का आश्रय लेना चाहिए, बन्दरों ने भी यही कार्य किया। इस यात्रा क्रम में अभी तक तो अंगदजी आगे थे, किन्तु जब गुफा में प्रविष्ट होने का अवसर आया तब श्री हनुमानजी को आगे कर लिया गया। गोस्वामीजी इस प्रसङ्ग के माध्यम से यह बताना चाहते हैं कि अंगद, बालि (इन्द्र) के पुत्र होने के नाते धर्म के प्रतीक हैं, तथा हनुमानजी शंकरावतार होने से साक्षात् विश्वास हैं। इसका अभिप्राय है कि सद्‌गुण सम्पन्न व्यक्ति भी जीवन में जब चारों ओर प्रतिकूलता तथा अन्धकार देखता है, तब वह घबरा जाता है, उसे लगता है कि अब तो जीवन में ऐसी समस्याएँ आ गई हैं, जिनका समाधान हम नहीं कर सकते किन्तु यदि विश्वास साथ में है तो कोई चिन्ता की बात नहीं है, क्योंकि अँधेरे में भी भगवान की कृपा खोज लेना तो विश्वास के वश की ही बात है। जिसे भगवत्कृपा पर अत्यधिक आस्था हो तथा यह कह सके कि बाहर भले ही अन्धकार हो, पर अन्दर तो स्वयंप्रभा है, यद्यपि बाहर जल दिखाई नहीं दे रहा है किन्तु भीतर जल का स्रोत अवश्य है। और तब हनुमानजी का आश्रय प्रात करके समस्त बन्दर इस गुफा में प्रविष्ट होकर भगवत्कृपा का साक्षात्कार करते हैं। इस प्रकार हनुमानजी के द्वारा अनेक अद्‌भुत कार्य सम्पन्न होते हैं। रामचरितमानस में तो यहाँ तक कह दिया गया कि :—

कवन सो काज कठिन जग माहीं ।
जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं ॥ ४।२९।५

लेकिन श्री हनुमानजी के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट कार्य अगर कोई मुझसे पूछे, तब मैं तो यही कहूँगा कि उनकी सबसे बड़ी भूमिका यही है कि वे जहाँ कहीं भी संशय, निराशा अथवा भय को देखते हैं, वहाँ पर तुरन्त ही उस संशय, निराशा तथा भय को मिटाकर व्यक्ति के अन्तःकरण में पुनः विश्वास का संचार करते हैं । श्री हनुमानजी के चरित्र में यही भूमिका आपको सर्वत्र दिखाई देगी । सुग्रीव के जीवन की समस्या भी यही है कि वे बालि के भय से आक्रान्त हैं । तथा बालि के द्वारा भयभीत सुग्रीव, भगवान राम तथा लक्ष्मण को भी देखकर संशय के कारण भागना चाहते हैं । किन्तु उस निराश तथा भयभीत और संशयग्रस्त सुग्रीव के अन्तःकरण में विश्वास का संचार करने वाले, श्री हनुमानजी महाराज हैं । वे सुग्रीव में केवल विश्वास ही उत्पन्न नहीं करते, अपितु भगवान श्री राघवेन्द्र तथा लक्ष्मणजी को लाकर सुग्रीव से मित्रता कराने का महानतम कार्य भी उनके द्वारा ही सम्पन्न होता है । इसका अभिप्राय है कि एक ओर यदि हनुमानजी की प्रमुख भूमिका सुग्रीव के चरित्र में है तो दूसरी ओर संदेह के जंगल में भटके हुए बन्दरों को स्वयंप्रभा की गुफा में ले जाने का कार्य भी इन्हीं विश्वासावतार श्री हनुमानजी का है । स्वयंप्रभा की गुफा से आगे बढ़ने पर समुद्र के किनारे सम्पाती ने इन बन्दरों को श्री सीताजी की प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहा कि :—

जो नाघइ सत जोजन सागर ।
करइ सो राम काज मति आगर ॥ ४।१२८।१

उसने कहा कि जो व्यक्ति चार सौ कोस के इस समुद्र को पार करेगा वही श्रीराम के कार्य को कर सकता है । सम्पाती की बात सुनकर बन्दर बेचारे तो आतंकित हो गए, उन्हें लगा कि अब श्री सीताजी हमें नहीं मिलेंगी । क्योंकि इतनी कठिन यात्रा कर सकना हमारे लिए तो सम्भव नहीं है । और तब उन बन्दरों में पुनः विश्वास की सृष्टि करके उस महान समुद्र को पार करने का आश्वासन देने का कार्य श्री हनुमानजी का है ।

उपरोक्त सन्दर्भ में ही मैं आपको एक सूत्र दे रहा हूँ, और वह सूत्र हमारे आपके बहुत काम का है । बहुधा लोग यह कहते हैं कि भाई ! केवल सुनने से लाभ क्या, जब तक कि उसे हम अपने जीवन में न उतार सकें । यदि हम भक्ति की खोज में चलें, किन्तु बन्दरों की तरह बीच में ही रुक जाएँ तो फिर यात्रा करने से क्या लाभ ? लेकिन गोस्वामीजी यह बताना चाहते हैं कि यात्रा की कठिनाइयों को पढ़कर व्यक्ति यदि आशंकित होकर यह सोच ले कि भई ! साधना की दिशा में तो बड़ी कठिनाइयाँ हैं, इस यात्रा

को पूरा कर पाना व्यक्ति के लिए सरल नहीं है, तब उसमें निराशा का संचार होगा। किन्तु इन बन्दरों को साधना का तत्त्व बताते हुए हनुमानजी ने कहा कि आपलोग समुद्र को भले ही पार न कर सकते हों, किन्तु मेरी प्रतीक्षा तो अवश्य ही कर सकते हैं। तथा मैं विदेहनन्दिनी की खोज में जा रहा हूँ। और हनुमानजी प्रगाढ़ विश्वास के स्वर में घोषणा करते हैं "**होइहि काजु**", मैं निश्चित रूप से जनकनन्दिनी का दर्शन करके लौटूँगा, इसका प्रमाण यही है कि "**मोहि हरष बिसेषी**" मेरा हृदय कह रहा है कि कार्य अवश्य होगा। और आपलोग यह तो जानते ही हैं कि श्री हनुमानजी के हृदय में कौन हैं ? गोस्वामीजी ने कहा कि :—

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन ।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर ।। १।१७

इसका अभिप्राय है कि हनुमानजी के हृदय में विराजमान साक्षात् प्रभु ही प्रेरणा कर रहे हैं कि विदेहनन्दिनी तुम्हें अवश्य ही प्राप्त होंगी। तथा बन्दरों ने हनुमानजी की वाणी पर विश्वास कर लिया। बन्दर वेचारे समुद्र को पार करने के लिए स्वयं तो आगे नहीं बढ़े, पर उन्हें यह विश्वास है कि हनुमानजी तो इसे अवश्य ही पार कर लेंगे। बन्दरों ने सोचा कि यद्यपि हम लोग शक्ति को प्राप्त नहीं कर सके, भक्ति अथवा शान्ति को नहीं पा सके, पर जब हनुमानजी श्री सीताजी का साक्षात्कार करके लौटेंगे, तब उनका दर्शन करके, हमें भी शान्ति और भक्ति की प्राप्ति का ही तो अनुभव होगा। इसका तात्पर्य है कि भाई ! जीवन का चरम लक्ष्य स्वयं प्राप्त कर लेना तो बहुत अच्छा है, पर यदि स्वयं न भी पा सकें तो फिर ऐसे सन्तों का दर्शन करके जीवन में धन्यता प्राप्त करने की चेष्टा करें, जो श्री सीताजी का साक्षात्कार कर चुके हैं। और सचमुच कितना विश्वास है इन बन्दरों के अन्तःकरण में, श्री हनुमानजी के वचनों पर, कि सारे बन्दर समुद्र के किनारे श्री हनुमानजी की प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं। और ज्योंही बन्दरों ने श्री हनुमानजी को लौटते हुए देखा तो तुरन्त एक दूसरे से कहने लगे कि वह देखो हमारे हनुमानजी प्रभु का कार्य करके लौट रहे हैं। गोस्वामीजी उस समय की झाँकी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि :—

हरषे सब बिलोकि हनुमाना ।
नूतन जन्म कपिन्ह तब जाना ।।
मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा ।
कीन्हेसि रामचन्द्र कर काजा ।।
मिले सकल अति भए सुखारी ।
तलफत मीन पाव जिमि बारी ।। ५।२७।५

और जब सारे बन्दर हनुमानजी के साथ-साथ प्रभु के पास चले, तब उन्होंने हनुमानजी से कहा कि महाराज ! हमलोग स्वयं तो यात्रा नहीं कर पाए, परन्तु यात्रा की कथा तो सुन ही सकते हैं, इसलिए आप इस यात्रा के अनुभव तो हम लोगों को सुना ही दीजिए। तथा गोस्वामीजी ने शब्द यही लिखा कि :—

चले हरषि रघुनायक पासा ।
पूँछत कहत नवल इतिहासा ॥ ५।२७।६

यहाँ पर तुलसीदासजी ने एक बड़ा अटपटा सा शब्द जोड़ दिया है। उन्होंने कहा कि हनुमानजी से बन्दर "**नया इतिहास**" सुनते जा रहे हैं। इसमें प्रश्न यह है कि इतिहास का तो अर्थ है "**पुराना,**" तब यह "**नया इतिहास**" का अभिप्राय क्या हुआ ? गोस्वामीजी का तात्पर्य है कि बन्दरों को ऐसा अनुभव हुआ कि इस इतिहास की विलक्षणता यही है कि यह पुराना होते हुए भी नया है। और भई ! रामचरितमानस में जो इतिहास है उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह त्रेतायुग का पुरातन है तथा वर्तमान में नूतन है। बन्दर हनुमानजी की कथा को सुनकर अपने हृदय में विचार करते हैं कि हमलोगों में कौन सी कमियाँ थीं जिनके कारण हम लोग नहीं जा पाए ? और वस्तुतः यह प्रश्न है कि इन बन्दरों के नेता अंगद असाधारण सामर्थ्ययुक्त होते हुए भी विदेहनन्दिनी तक पहुँचने में असमर्थ रहे थे। यद्यपि अंगद ने एक बार तो बन्दरों से यह कह दिया कि मैं पार जा सकता हूँ।

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। ४।२९।१

अंगद ने जब कहा कि मैं पार चला जाऊँगा तब बन्दरों ने सोचा कि चलो हमलोगों में से एक तो ऐसा निकला जो पार जा सकता है। किन्तु इतने बलवान होते हुए भी अंगद बेचारे इतने अधिक संशयग्रस्त थे कि तुरन्त ही कहने लगे, मैं जा तो सकता हूँ, पर जाऊँगा नहीं, क्योंकि :—

जिय संसय कछु फिरती बारा ॥ ४।२९।१

लौटकर आ पाऊँगा कि नहीं इसमें सन्देह बना हुआ है। किन्तु श्री हनुमानजी के अनुभव सुनकर अंगद के जीवन में पूरी तरह से परिवर्तन आ गया। हनुमानजी की कथा सुनकर अंगद के जीवन में एक के बाद दूसरा प्रभाव पड़ा। कथा सुनते-सुनते सारे बन्दर किष्किन्धा के निकट पहुँच गए तथा वहाँ पर उन्होंने सुग्रीवजी की वाटिका को देखा, जिसमें चारों ओर फल ही फल लटके हुए थे, और तब पता चला कि कथा के द्वारा अंगद को कितनी प्रेरणा मिली ? इन फलों को देखकर तुरन्त अंगद ने बन्दरों से कहा कि भाई ! हनुमानजी जब श्री किशोरीजी का दर्शन करने के बाद रावण की वाटिका के फल खाकर अपनी भूख मिटा सकते हैं, तो फिर हनुमानजी जैसे सन्त का

दर्शन करने के पश्चात् भी क्या हम लोगों की भूख नहीं मिटेगी ? यदि श्री हनुमानजी ने रावण की वाटिका का फल खाया तो हम लोग सुग्रीवजी की वाटिका के फल खाकर तृप्ति का अनुभव करें तथा अंगद को यह प्रेरणा हनुमानजी की कथा के द्वारा ही प्राप्त हुई थी। हनुमानजी ने कथा सुनाते हुए कहा कि मैंने माँ से अनुरोध किया कि "**सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा,**" तब माँ ने कह दिया कि पुत्र ! यहाँ पर तो राक्षस पहरा दे रहे हैं। किन्तु मैंने कहा "**माँ मुझे राक्षसों का बिलकुल भय नहीं है**"।

तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। ५।१६।९

अंगद का तात्पर्य था कि भई ! हनुमानजी तो प्रवृत्ति नगर में जाकर, दुर्गुण-दुर्विचारों को नष्ट करके भी फल खा सकते हैं पर इस वाटिका में तो कोई दुर्गुण-दुर्विचार नहीं हैं। यहाँ तो पहरेदार भी वे बन्दर ही हैं जो गुण के प्रतीक माने जाते हैं। इसलिए यहाँ तृप्ति प्राप्त होने में कोई कठिनाई नहीं है, और अंगद जी के आदेश से यह बन्दर वाटिका में प्रविष्ट होकर फल खाने लगे।

तब मधुवन भीतर सब आए।
अंगद संमत मधु फल खाए॥ ५।२७।७

यद्यपि अंगद सुग्रीव से इतना अधिक भयभीत रहते थे कि समुद्र के किनारे इन्होंने बन्दरों से कहा था कि आपलोग मारे जाएंगे अथवा नहीं इसमें सन्देह है, पर मेरी मृत्यु तो अवश्यम्भावी है। क्योंकि सुग्रीव तो मुझे उसी समय मारना चाहते थे, जब मेरे पिता की मृत्यु हुई थी, किन्तु उस समय प्रभु ने मुझे बचा लिया।

पिता बधे पर मारत मोही।
राखा राम निहोर न ओही॥ ४।२५।५

परन्तु अब तो वे मुझे अवश्य मार डालेंगे। लेकिन आज हनुमानजी की कथा ने उनमें ऐसी निर्भयता ला दी कि जो अंगद सुग्रीव के भय से घबराते थे, आज उन्होंने बिना पूछे ही सुग्रीव का बाग उजड़वा दिया। अंगद ने कहा कि आज भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है, निर्भीक होकर बाग में फल खाओ, किन्तु जब फल खाने लगे तो इस बाग के रक्षक बन्दरों ने इन्हें रोकना प्रारम्भ किया।

गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि भई ! केवल राक्षस ही बाधा नहीं देते बल्कि कभी-कभी तो बन्दर भी बाधा पहुँचाते हैं। जीवन में केवल दुर्गुण ही बाधक नहीं बनते अपितु सद्गुण का अभिमान भी बाधक होता है। तथा वाटिका के रक्षकों का अभिमान भी बाधा पहुँचाने लगा। इन पहरेदारों ने सोचा कि हमसे बिना पूछे ही, यह लोग फल खाने लगे, इन्होंने हमारी उपेक्षा की। और तब उन्होंने कहा कि आपलोग फल नहीं खा सकते। रक्षकों की

बात सुनकर अंगद ने कहा कि हमलोगों को भी हनुमानजी का ही अनुकरण करना चाहिए। हनुमानजी ने अगर राक्षसों को मुक्के लगाए, तो हमलोग इन बन्दरों पर प्रहार करें। पर मुक्का ऐसा लगे, जिससे यह मरने न पाएँ। क्योंकि हनुमानजी का तो उद्देश्य राक्षसों का वध करना ही था। इसीलिए उन्होंने राक्षसों पर कस कर प्रहार किया। गोस्वामीजी ने स्पष्ट कह दिया कि :—

कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि।
कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि॥ ५।१८

अंगद का तात्पर्य था कि हनुमानजी महाराज ने दुर्गुण-दुर्विचारों को धूल में मिला दिया, यह तो श्री हनुमानजी की महान सफलता है। किन्तु भई! दुर्गुण-दुर्विचारों को जिस प्रकार धूल में मिलाया गया, उसी तरह सद्‌गुणों को मिटाना हमारा लक्ष्य नहीं है। परन्तु उनमें स्वामित्त्व का जो मिथ्या अहंकार आ गया है, उसको तो मिटाना ही पड़ेगा। अंगदजी के मन में उस समय हनुमानजी के द्वारा कही गई कथा का एक प्रसङ्ग स्मरण हो आया। उन्होंने सोचा कि श्री हनुमानजी ने अन्य राक्षसों को तो मिटा दिया, किन्तु लंकिनी को तो उनके एक ही मुक्के ने सुधार दिया, इसलिए हो सकता है कि शायद यह लोग भी मुक्के से ही सुधर जाएँ। लेकिन मुक्का लगने के बाद भी सुग्रीव की वाटिका के पहरेदारों का अहंकार पूरी तरह नहीं गया। मुक्का पड़ते ही वे आघात के मारे तिलमिला उठे, और सीधे सुग्रीव के पास चले गए।

सुग्रीव के पास जाते समय यह बन्दर सोचने लगे कि अब किस प्रकार सूचना दें कि जिससे इनको क्रोध आ जाए। उनको यह पता था कि सुग्रीव तथा अंगद में पटती नहीं है, और तब वे एक विचित्र ढंग से सूचना देते हैं। उन्होंने यह नहीं कहा कि हनुमानजी अथवा जाम्बवानजी ने बाग उजड़वा दिया। अपितु झगड़ा लगाने के उद्देश्य से वे कहते हैं कि महाराज! अंगद ने आपका बाग उजड़वा दिया।

जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज। ५।२८

इस प्रकार सूचना देते समय उन्हें आशा थी कि यह वाक्य सुनकर सुग्रीवजी क्रोध से भर उठेंगे तथा तुरन्त ही अंगद को पकड़ कर लाने का आदेश देंगे। लेकिन भाई! सुग्रीव तथा रावण में तो बहुत बड़ा अन्तर है। रावण ने जिस समय सुना कि एक बन्दर ने फल खाकर मेरा बाग उजाड़ दिया तो उसको क्रोध आ गया, परन्तु सुग्रीव ने ज्यों ही सुना कि अंगद के आदेश से बन्दरों ने मेरी वाटिका के फल खा लिए, तब उनके मुख मण्डल पर चौगुनी प्रसन्नता आ गई।

जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज।
सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभु काज ॥ ५।२८

उन्होंने कहा कि अरे भाई! मैं समझ गया कि बन्दर भगवान श्री राघवेन्द्र का कार्य सम्पन्न करके ही लौटे हैं। इस कार्य के द्वारा अंगद तथा अन्य बन्दरों ने सूचना देने की एक नई पद्धति हमलोगों को बता दी। वे लोग आकर सूचना दे सकते थे कि हमलोग श्री सीताजी का दर्शन करके आ गए, किन्तु उन्होंने सोचा होगा कि शब्द के द्वारा सूचना देने में क्या आनन्द है? शब्द के द्वारा नहीं अपितु वे तो अपनी निर्भयता के द्वारा सूचना दे रहे हैं कि हमने श्री सीताजी को पा लिया है।

सुग्रीवजी ने अपने अन्तःकरण में विचार किया कि जब तक व्यक्ति, शान्ति, भक्ति, अथवा शक्ति को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसमें इतनी निर्भीकता नहीं आ सकती। और सचमुच बन्दरों में जो इतनी निर्भीकता दिखाई पड़ रही है, उसकी प्रेरणा भी तो श्री हनुमानजी की कथा के द्वारा ही प्राप्त हुई है। हाँ यह बात अलग है कि किसको कितनी बार में प्रेरणा मिलती है। इन बन्दरों को जब सम्पाती ने कथा सुनाई, तब वे प्रेरणा नहीं ले पाए, किन्तु जब हनुमानजी ने सुनाई, (विश्वास ने जब कथा सुनाई), तब उन्हें प्रेरणा प्राप्त हुई। लेकिन प्रेरणा प्राप्त करने की मात्रा में भी अन्तर है। वैसे तो सभी बन्दरों ने श्री हनुमानजी के अनुभवों से शिक्षा ग्रहण की, परन्तु उनमें सर्वाधिक प्रेरणा अंगद ने प्राप्त की। इसीलिए हनुमानजी जब अपनी लंका यात्रा के अनुभव सुनाने लगे, तब अंगद ने उनसे पूछा कि रावण को आपने क्या उपदेश दिया? हनुमानजी ने कहा, भाई! मैंने तो रावण से यही अनुरोध किया कि :—

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू ॥ ५।२२।१

भगवान राम के चरण-कमलों को हृदय में धारण करके तुम लंका का अचल राज्य करो। और हनुमानजी के इस उपदेश का लाभ दो व्यक्तियों ने लिया। इनमें एक तो विभीषणजी हैं तथा दूसरे हैं अंगद। विभीषणजी ने तो "**राम चरन पंकज उर धरहू**" को अपने जीवन में पूरी तरह उतार लिया। वे जब भगवान श्रीराम की शरण में चले, तब प्रभ के चरण कमलों का स्मरण करते हुए ही चले, और सचमुच लंका के राजा बन गए।

श्री हनुमानजी की कथा के द्वारा प्रेरणा प्राप्त करने वाले अंगदजी ने रावण की सभा में मुक्का मारकर उसको सिंहासन से गिरा दिया। क्योंकि अंगद जानते थे कि रावण ने प्रभु के चरण कमलों को अपने हृदय में धारण नहीं किया है, इसलिए इसका राज्य तो अचल हो ही नहीं सकता। तथा मैं

भी यह देखना चाहता हूँ कि हनुमानजी ने जो कुछ कहा था वह कितना सही था। किन्तु जब एक ही मुक्के में रावण सिंहासन के नीचे गिर गया, तो अंगद समझ गए कि हनुमानजी की बात बिल्कुल सही थी। क्योंकि रावण तो समझ बैठा था कि मेरा सिंहासन कभी नहीं हिलेगा, लेकिन जब यह एक बन्दर के मुक्के से ही मुँह के बल गिर पड़ा, तब तो रावण का अभिमान व्यर्थ ही था। तथा हनुमान जी की कथा का उनके मन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि जो अंगद इतने संशयालु थे कि समुद्र पार करने का साहस भी नहीं जुटा पाए वही भयभीत तथा संशयालु अंगद आज इतने निर्भीक और विश्वासी हो गए कि रावण की सभा में अपना पैर रोप कर उन्होंने घोषणा कर दी कि :—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी।

फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥ ६।३३।९

अंगद का तात्पर्य था कि जब हनुमानजी जैसे सन्त यह कहते हैं कि भगवान का चरण हृदय में धारण करने से लंका का राज्य अचल हो जाएगा तो क्या प्रभु का चरण हृदय में धारण करने से मेरा पैर अचल नहीं होगा? और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अंगद के जीवन में सारा परिवर्तन, केवल हनुमानजी की कथा के द्वारा ही होता है।

उपरोक्त प्रसङ्ग का सीधा सा तात्पर्य है कि विश्वास (श्री हनुमानजी) के दृढ़ स्वर के द्वारा बन्दरों के अन्तःकरण का संशय मिट गया। और जब व्यक्ति के जीवन का संशय विनष्ट हो जाता है तब वह अपनी शक्ति का सदुपयोग करता हुआ जीवन में भक्ति, शान्ति तथा शक्ति को प्राप्त करके धन्य हो जाता है। तथा रामचरितमानस में श्री हनुमानजी की भूमिका यही है कि वे अपने चरित्र के द्वारा अनेक पात्रों के अन्तःकरण का सन्देह दूर करते हैं। सुग्रीव का संशय मिटाने की भूमिका भी हनुमानजी की ही है। इन बन्दरों का सन्देह भी हनुमानजी की कृपा से ही समाप्त होता है। तथा लंका में विभीषण जी संशयग्रस्त बैठे हुए थे। उन्होंने अपना संशय प्रकट करते हुए हनुमानजी से कह दिया कि महाराज! मैं प्रभु की शरण में चला तो जाऊँ लेकिन क्या पता श्रीराम मुझे स्वीकार करेंगे भी कि नहीं? और यही सन्देह उन्हें भगवान की शरण में जाने से रोकता है। किन्तु विभीषणजी का वाक्य सुन कर हनुमानजी ने उनसे तुरन्त कहा कि आप यह प्रश्न मुझे देखने के पश्चात् पूछ रहे हैं? और तब उन्होंने उलटकर विभीषणजी से प्रश्न कर दिया कि पहले यह बताइए कि मुझमें कौन सा गुण था, जिसे देखकर प्रभु ने मुझे अपनाया है? हनुमानजी का वाक्य यही है कि :—

कहहु कवन मैं परम कुलीना।

कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥

प्रात लेइ जो नाम हमारा ।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ।।
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर ।
कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर ।। ५।७

और कह दिया कि प्रभु के इस करुणामय स्वभाव को भुला कर जीव यदि अन्यत्र भटकता है तो उसका दु:खी होना स्वाभाविक है ।

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी ।
फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी ।। ५।७।१

हनुमानजी के उपदेश से विभीषणजी का संशय मिट गया तथा वे भगवान श्रीराम की शरण में पहुँच गए । इसका अभिप्राय है कि विभीषणजी का संशय दूर करने वाले भी हनुमानजी ही हैं । और परम सन्त श्री भरत भी एक दिन संशयग्रस्त हो गए, तथा निराशा भरे स्वर में उन्होंने कहा कि:—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा ।
समुझत मन दुख भयउ अपारा ।।
कारन कवन नाथ नहिं आयउ ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ ।।
अहह धन्य लछिमन बड़ भागी ।
राम पदारबिंदु अनुरागी ।।
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा ।
ताते नाथ संग नहि लीन्हा ।। ७।०।४

उनके अन्तःकरण में यह संशय उत्पन्न हुआ कि पता नहीं प्रभु आएँगे भी कि नहीं ? श्री भरत ने कहा कि लगता है अत्यन्त बुरा समझकर ही प्रभु ने मेरा परित्याग कर दिया तथा अब वे अयोध्या नहीं आवेंगे । और भगवान श्रीराम ने तो दूर से ही श्री भरत के हृदय का यह सन्देह जान लिया तथा उस समय प्रभु ने किसका स्मरण किया ? इस प्रसङ्ग में एक बात मैं आपको अवश्य बता दूँ कि जब कोई संकट का अवसर आता है, तब भगवान श्रीराम विश्वासावतार श्री हनुमानजी के द्वारा ही उस संकट का समाधान कराते हैं । तथा यहाँ पर भी प्रभु ने अचानक श्री हनुमानजी से कहा कि तुम तुरन्त अयोध्या चले जाओ, और वहाँ पर मेरे आने का समाचार भरत को सुना दो । तब हनुमानजी बोले कि महाराज ! समाचार सुनाने के पश्चात् मैं वहीं श्री भरत के चरणों में रुक जाऊँगा तथा अयोध्या में ही आपके श्री चरणों का दर्शन करूँगा । तो प्रभु ने कहा कि नहीं भाई ! केवल मेरा समाचार ही उनको नहीं सुनाना है । अपितु उनकी कुशलता जानने की जिज्ञासा मेरे मन में भी है । इसीलिए तुम्हें दोनों को ही सन्तोष देना है । प्रभु का वाक्य यही है कि:—

भरतहि कुसल हमारि सुनाएहु ।
समाचार लै तुम्ह चलि आएहु ।। ६।१२०।२

और उस समय संशय के कारण विरह समुद्र में डूबते हुए श्री भरत को किसने उबारा ?

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत ।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ।। ७।१(क)

हनुमानजी ने आकर श्री भरत को विश्वास दिलाते हुए कहा कि:—

जासु बिरह सोचहु दिन राती ।
रटहु निरंतर गुन गन पाती ।।
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता ।
आयउ कुसल देव मुनि त्राता ।।
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत ।
सीता सहित अनुज प्रभु आवत ।।
सुनत बचन बिसरे सब दूखा ।
तृषावंत जिमि पाइ पियूषा ।। ७।१।६

उस समय हनुमानजी से श्री भरत ने बहुत सुन्दर बात कही । उन्होंने कहा कि भाई हनुमान ! जब तक मनुष्य को ऋण चुकाने की चिन्ता होती है, तब तक तो वह समझ बूझ कर उतना ही ऋण लेता है, जितना सरलता से लौटा सके । किन्तु एक बार जब व्यक्ति यह समझ ले कि इतने ऋण को हम लौटा नहीं सकेंगे, तब फिर उसे उधार लेने में कोई संकोच नहीं होता है। वह सोचता है कि अन्त में दिवालिया तो बनना ही है तब फिर जितना अधिक से अधिक ऋण लिया जा सके, उतना ले ही लेना चाहिए। श्री भरतजी ने कहा कि महाराज ! आपने इतना अधिक ऋण मेरे ऊपर चढ़ा दिया है कि उसे मैं चुका तो पाऊँगा नहीं । इसलिए मैं चाहता हूँ कि थोड़ा सा ऋण आपसे और ले लूँ । और वह ऋण श्री भरत ने कौन सा माँगा ? गोस्वामीजी उत्तर काण्ड में संकेत करते हुए कहते हैं कि :—

नाहिन तात उरिन मैं तोही ।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही ।। ७।१।१४

श्री भरत ने कहा कि आपके द्वारा केवल तीन पंक्तियों में सुनाई गई कथा सुनने पर मेरा दुःख तो दूर हो गया लेकिन आपके श्री मुख से विस्तार पूर्वक कथा सुनने पर मेरे हृदय को कितना सुख प्राप्त होगा, उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता । इस प्रकार श्री हनुमानजी के द्वारा भरतजी के हृदय का भी संशय तथा दुःख दूर किया जाता है । लेकिन हनुमानजी के जीवन की सबसे जटिल भूमिका है प्रवृत्ति के लंका दुर्ग में राक्षसियों से घिरी हुई

सीताजी के अन्तःकरण में विश्वास उत्पन्न करना। क्योंकि यहाँ पर तो विदेहनन्दिनी साक्षात् संशय तथा मोह की वाटिका में विराजमान हैं। तथा यहाँ तक पहुँचने में श्री हनुमानजी को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, तथा वे उन विघ्नों को कैसे पार करते हैं, उसका सूत्र रूप में थोड़ा सा संकेत हम आपके सामने करना चाहेंगे।

सबसे पहले इन बन्दरों को स्वयंप्रभा के द्वारा भगवान की कृपा का संदेश मिला। स्वयंप्रभा ने इनसे कहा कि आपलोग जल पीजिए, फल खा लीजिए, तब मेरे पास आइए।

तेहि तब कहा करहु जल पाना।
खाहु सुरस सुंदर फल नाना।। ४।२४।२

उसके पश्चात् जब सारे बन्दर जल पीकर तथा फल खाकर आए तो स्वयंप्रभा ने पूछ दिया कि आप लोगों के मन में अब भी पूरी प्रसन्नता नहीं दिखाई दे रही है। आपकी इस उदासी का कारण क्या है? तब बन्दरों ने कहा कि हम लोगों ने जनकनन्दिनी को खोजने की चेष्टा की, लेकिन एक माह व्यतीत हो जाने पर भी विदेहनन्दिनी का साक्षात्कार हमें नहीं हुआ। उस समय स्वयंप्रभा ने उलट कर बन्दरों से ही प्रश्न कर दिया कि श्री सीताजी को आपने आँख मूँद करके खोजा कि आँख खोल कर? स्वयंप्रभा के इस वाक्य को सुनकर बन्दरों को ऐसा लगा कि शायद यह हमारे ऊपर आक्षेप कर रही हैं कि आपलोगों ने आँख खोल कर सावधानी से नहीं ढूँढ़ा। तो बन्दरों ने कहा कि देवि! एक महीने में एक क्षण के लिए भी हमने आँख नहीं मूँदी तथा चौबीसों घण्टे जागते हुए हमने श्री सीताजी को खोजने की चेष्टा की। किन्तु फिर भी विदेहनन्दिनी नहीं मिलीं। तब स्वयंप्रभा ने कहा कि यदि जनकनन्दिनी को पाना चाहते हो, तो मेरी सलाह मानो और मुझे विश्वास है कि आप लोगों को सीताजी अवश्य प्राप्त होंगी। जब बन्दरों ने उपाय जानने की जिज्ञासा प्रकट की तो स्वयंप्रभा ने कहा कि **"मूँदहु नयन"** आप लोग जरा आँख मूँद करके तो खोजिए। उनका अभिप्राय था कि शान्ति को केवल बाहर ही मत खोजते रहिए। उन्हें अपने अन्तःकरण में भी तो खोजने की चेष्टा कीजिए, भक्ति केवल बाहर ही नहीं मिलेंगी, अपितु उन्हें पाने के लिए अन्तर्मुखता की आवश्यकता है।

नेत्र मूँदने का दूसरा तात्पर्य है कि जब पुरुषार्थ की पूर्णता हो जाए, तब ईश्वर पर विश्वास कीजिए। व्यवहार में भी यही देखा जाता है कि दिन भर कर्म करने के पश्चात् अगर रात्रि को भी व्यक्ति आशंकित रहे, कर्म का ही चिन्तन करता रहे, तो नींद नहीं आ पाएगी। क्योंकि व्यक्ति को निद्रा

तभी आएगी जब उसे निश्चिन्तता होगी, विश्वास होगा। स्वयंप्रभा का तात्पर्य था कि आपलोग पुरुषार्थ करके तो थक चुके, परन्तु अब विश्वास का आश्रय लेकर श्री सीताजी को अपने अन्तःकरण में खोजिए। पर बन्दर स्वयंप्रभा के वाक्य का ठीक-ठीक अर्थ नहीं ले पाए। वंदरों ने इस वाक्य का मोटा-मोटा अर्थ ले लिया। स्वयंप्रभा ने कहा था कि आप लोग आँख मूँद लीजिए, गुफा को छोड़कर चले जाइए, आप लोग चिन्ता न करें, श्री सीताजी अवश्य मिलेंगी।

मूँदहु नयन बिबर तजि जाहू।
पैहहु सीतहिं जनि पछिताहू॥ ४।२४।५

अन्य बन्दरों ने तो केवल इसका इतना ही अर्थ लिया कि **"नेत्र मूँद लेना चाहिए"** किन्तु आँख बन्द करने का सही अर्थ तो केवल हनुमानजी ही जानते थे। गोस्वामीजी ने व्यंग्य किया कि इन लोगों ने नेत्र मूँदे तो किन्तु कितनी देर के लिए? तुलसीदासजी ने स्पष्ट कह दिया कि :—

नयन मूदि पुनि देखहिं बीरा। ४।२४।६

एक क्षण के लिए नेत्र बन्द किए, और फिर आँख खोलकर देखने लगे कि वस्तुतः शान्ति अथवा भक्ति मिली कि नहीं? इसी प्रकार हम लोग भी पूजा करते समय नेत्र बन्द करके बैठ जाते हैं और सोंचते हैं कि आँख बन्द करते ही हमें शान्ति अथवा भक्ति प्राप्त हो जाएगी, किन्तु ऐसा नहीं होता है। और भई नेत्र मूँदने का अर्थ केवल आँख बन्द करना ही नहीं है। इसका तात्पर्य है **"समस्त इन्द्रियों का निरोध करके पूरी तरह भगवान पर विश्वास कर लेना"**। भौतिक दृष्टान्त, के रूप में इसे हम यों भी कह सकते हैं कि जब व्यक्ति चलते-चलते थक जाता है तो कह देता है कि अब हममें चलने की सामर्थ्य नहीं है, और तब थक कर बैठ जाता है तथा जीवन में विश्वास का आश्रय ग्रहण करता है। किन्तु बन्दरों में पूर्ण समर्पण की वृत्ति अभी तक नहीं आई है। वे नेत्र खोलकर देखते हैं और तब उन्हें स्वयंप्रभा के उपदेश पर भी सन्देह होने लगा। वे सोचने लगे कि स्वयंप्रभा ने तो कहा था कि **"पैहहु सीतहिं"**, पर नेत्र मूँदने के बाद भी सीताजी तो नहीं मिलीं, अपितु सामने खारा समुद्र दिखाई पड़ रहा है। तब यह बन्दर निराश होकर सोचते हैं कि स्वयंप्रभा की बात सही नहीं है। इसका अभिप्राय है कि साधक को कभी-कभी संत की वाणी तथा कृपा की बात पर अविश्वास भी होने लगता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात सही नहीं है। और जव स्वयंप्रभा के वाक्य पर सन्देह होने लगा, तब सारे बन्दर प्राण त्यागने के लिए बैठ गए। परन्तु अचानक इन लोगों को एक स्वर सुनाई पड़ा। यह स्वर एक गुफा में बैठे हुए सम्पाती का था। और

यह किष्किन्धाकाण्ड की चौथी गुफा है। सम्पाती ने गुफा में से ही कहा कि जब इतने बन्दर एक साथ प्राण दे रहे हैं तब तो मुझे बहुत दिनों के लिए भोजन मिल गया। मैं भी काफी लम्बे समय से भूखा था किन्तु आज बड़ा आनन्द आएगा। सम्पाती का वाक्य यही है कि :—

आजु सबहिं कहँ भच्छन करऊँ।
दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ।। ४।२६।३

गोस्वामीजी ने कहा कि यद्यपि समस्त बन्दर प्राण त्यागने के लिए प्रस्तुत थे, परन्तु फिर भी सम्पाती की बात सुनकर बन्दर बेचारे भय के मारे काँपने लगे। इसका अभिप्राय है कि भाई! आत्म हत्या करने वाला भी चाहता है कि हम सुख से मरें। व्यक्ति इसके बारे में बड़ी चिन्ता करता है कि मृत्यु के बाद मेरे शव की क्या स्थिति होगी? बन्दरों ने जब यह विचार किया कि मरने के बाद भी यह गीध ही हम लोगों को खाएगा तब उन्हें बड़ी निराशा हुई। किन्तु निराशा के उन क्षणों में भी अंगद ने विवेक नहीं खोया। यहाँ पर एक बात मैं स्पष्ट कर दूँ कि इस प्रसंग में अंगद तो बोले परन्तु हनुमानजी नहीं। और हनुमानजी के न बोलने का तात्पर्य है कि स्वयंप्रभा का उपदेश सुनकर हनुमानजी ने केवल आँखें ही बन्द नहीं कीं, अपितु उन्होंने तो आँख, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियों को बन्द कर लिया था, वे पूरी तरह से भीतर चले गए इसीलिए हनुमानजी ने सम्पाती का स्वर तो सुना ही नहीं, और जब उन्होंने स्वर सुना ही नहीं तो बोलते कैसे? तब अंगदजी ने विचार का आश्रय लेकर मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा की, तथा उन्होंने कहा कि :—

कह अंगद बिचारि मन माहीं।
धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।। ४।२६।७

और जटायु का नाम सुनते ही सम्पाती ने बन्दरों से कहा कि आप लोग डरिये नहीं, जटायुजी तो मेरे भाई थे। मैं उनकी कथा सुनना चाहता हूँ। फिर सम्पाती तथा बन्दरों में परिचय होता है। उसके पश्चात् सम्पाती ने कहा कि आप लोग आँख बन्द करने से घबरा गए थे, किन्तु अब जरा मेरे कहने से नेत्र खोल लीजिए। इस प्रसंग के द्वारा गोस्वामीजी मानो बताना चाहते हैं कि आँख खोलना विवेक का परिचायक है तथा नेत्र बन्द करना विश्वास का। परन्तु प्रश्न यह है कि जीवन में विवेक चाहिए कि विश्वास। और इसका उत्तर है कि दोनों का सन्तुलन होना आवश्यक है। विवेक के साथ-साथ विश्वास की अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिए एक ओर स्वयंप्रभा तो कहती हैं कि नेत्र मूँदिए, और दूसरी ओर सम्पाती का आदेश है कि आँख खोलिए। सम्पाती ने जब कहा कि वह देखो समुद्र के किनारे उस पार,

अशोक वाटिका में, अशोक वृक्ष के नीचे सीताजी बैठी हैं, तब बन्दर बेचारे आँख फाड़-फाड़ कर देखने लगे, लेकिन उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं दिया। तब वे सोचने लगे कि जब नेत्र मूदे तब भी कुछ नहीं मिला और अब आँख खोलने पर भी कुछ नहीं मिल रहा है। लगता है यह सब केवल कहने की ही बातें हैं, इनमें सत्यता का नाम-मात्र भी नहीं है। परन्तु उनके इस मनोभाव को समझकर सम्पाती ने बहुत बढ़िया बात कही, उसने कहा भई! सबकी आँखें एक बराबर नहीं होती हैं। आपलोगों की आखों तथा मेरी आँखो में सबसे बड़ा अन्तर तो यही है कि :—

मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार। ४।२८

जब सम्पाती ने कहा कि "**मैं देख रहा हूँ**" तो बन्दरों ने प्रार्थना की कि आप यदि देख रहे हैं, तो फिर आप ही कृपा करके चले भी जाइए। किन्तु सम्पाती ने असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि :—

बूढ़ भयउँ न त करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार।। ४।२८

भाई! हम तो बूढ़े हो गए, यदि युवा होता तो आपकी सहायता अवश्य करता। किन्तु आप निराश मत होइए, आपलोगों में से ही कोई व्यक्ति इस कार्य को करेगा। बन्दरों ने जिज्ञासा प्रकट की कि कौन करेगा? तब सम्पाती ने उसकी कसौटी बताते हुए कहा कि :—

जो नाघइ सत जोजन सागर। ४।२८।१

जो व्यक्ति सौ योजन के इस समुद्र को पार करेगा, वही प्रभु का कार्य करेगा। उसके पश्चात् प्रत्येक बन्दर अपने-अपने बल का वर्णन करता है, किन्तु पार जाने का साहस जब कोई एक नहीं कर पाया। तब जाम्बवन्त ने श्री हनुमानजी की ओर अभिमुख होकर कहा कि :—

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना।
का चुप साधि रहेहु बलवाना।। ४।२९।३

अरे! आप चुप क्यों बैठे हैं? किन्तु हनुमानजी तो स्वयंप्रभा के "**मूँदहु नयन**" वाले उपदेश पर ही विश्वास करके भगवत्कृपा के प्रति समग्र सर्मपित हो चुके थे। उन्होंने विचार किया कि जब प्रभु ने कृपा करके नेत्र मूंदने का आदेश दिलाया है, तो अब आँख तभी खोलेंगें, जब नेत्र खोलने की आज्ञा दी जाएगी।

श्री जाम्बवानजी के द्वारा चैतन्य किए जाने पर हनुमानजी महाराज ने जब यात्रा प्रारम्भ की तो उन्हें मार्ग में सर्वप्रथम मैनाक पर्वत मिल गया। उसने समुद्र से ऊपर आकर हनुमानजी से कहा कि आइए पहले आप विश्राम कर लीजिए, फिर आगे यात्रा कीजिएगा। इस मैनाक पर्वत में दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह हनुमानजी के पिता का मित्र है, तथा दूसरे यह पर्वत स्वर्ण

का है। इसका अभिप्राय यह है कि देह का सम्बन्ध तथा प्रलोभन, यह दो वस्तुएँ हनुमानजी के सामने हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि जो साधक शान्ति अथवा भक्ति की दिशा में बढ़ रहा है, उसे देह के नाते को महत्त्व देना चाहिए कि उसका तिरस्कार कर देना चाहिए ? वह प्रलोभनों को स्वीकार करे कि उनसे ऊपर उठने की चेष्टा करे ? और इन प्रश्नों का उत्तर श्री हनुमानजी ने अपनी क्रिया के द्वारा दिया। उन्होंने सोने के पर्वत को ठुकरा कर अपने त्याग का प्रदर्शन नहीं किया, और न ही उन्होंने यह कहा कि मैं पिता के नाते को कुछ नहीं मानता। अपितु हनुमानजी ने तुरन्त मैनाक पर्वत को प्रणाम किया।

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम। ५।१

हनुमानजी ने कहा कि पिताजी के मित्र होने के नाते आप प्रणाम के योग्य हैं, लेकिन आप यह विचार कीजिए कि मैं एक लक्ष्य लेकर चला हूँ, और जब तक वह लक्ष्य पूर्ण नहीं कर लेता तब तक मुझे विश्राम नहीं मिलेगा।

राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ विश्राम। ५।१

इस प्रकार यहाँ पर श्री हनुमानजी प्रलोभन से ऊपर उठकर आगे की ओर बढ़ गए। उसके पश्चात् उनके समक्ष सुरसा, सिंहिका तथा लंकिनी के रूप में तीन महाविघ्न आए। और आप यह भी देखेंगे कि इन तीनों ने हनुमानजी को खाने की चेष्टा की। पर हनुमानजी ने तीनों से अलग-अलग प्रकार का व्यवहार किया। हनुमानजी सुरसा से हाथ जोड़कर आशीर्वाद माँगते हैं, सिंहिका का उन्होंने बध कर दिया तथा लंकिनी को वे अधमरा कर देते हैं। यह तीनों कौन हैं, तथा इनका हमारे आपके जीवन से क्या सम्बन्ध है, जरा इस पर भी आप विचार कीजिए !

श्री हनुमानजी के सामने सर्वप्रथम सुरसा आती है। सुरसा का अभिप्राय है "**लोकैषणा**"। और इसका सीधा सा तात्पर्य है कि समाज में हमें धन का त्याग कर देने वाले तो अनेक व्यक्ति मिलेंगे, किन्तु धन के परित्याग के बाद भी जो सुरसा (लोकैषणा) का ग्रास न बने, ऐसा तो हनुमानजी की तरह कोई विरला ही व्यक्ति मिलेगा। गोस्वामीजी व्यक्ति की इसी दुर्बलता की ओर संकेत करते हुए विनय-पत्रिका में कहते हैं कि :—

कोउ भल कहउ, देउ कछु, असि बासना न उर ते जाई।

विनयपत्रिका—११९

उन्होंने कहा कि जो महापुरुष अपने जीवन में बड़े से बड़े प्रलोभन को अस्वीकार कर देते हैं, उनके मन में भी यह वासना अवश्य विद्यमान रहती है कि समाज त्यागी कहकर मेरी प्रशंसा करे। इसका अभिप्राय है कि यह सुरसा वस्तुतः लोकैषणा अर्थात कीर्ति की आकांक्षा है। और यह सुरसा,

मैनाक पर्वत से आगे बढ़ने के तुरन्त वाद आई। इसका अर्थ है कि जब कोई व्यक्ति त्याग करेगा, तब उसके अन्तःकरण में तत्काल लोकैषणा आ जाएगी। तथा वह व्यक्ति इस लोकैषणा के द्वारा खा लिया जाएगा। लेकिन श्री हनुमानजी ने इस सुरसा का वध नहीं किया। इस कार्य के द्वारा श्री हनुमानजी ने हमलोगों को यह बताया कि भई! यश की आकाँक्षा (लोकैषणा) से प्रेरित होकर ही तो व्यक्ति अच्छे कार्य करता है। और जब व्यक्ति की कामना ही समाज से समाप्त हो जाएगी, तब तो व्यक्ति में श्रेष्ठ कर्म करने की वृत्ति ही उत्पन्न नहीं होगी। इसीलिए श्री हनुमानजी ने सुरसा को मारा नहीं। लेकिन वे हमलोगों को सावधान कर देते हैं कि यद्यपि सुरसा को मारना तो नहीं है, पर यह ध्यान हमें सर्वदा रखना है कि **"यह कीर्ति की कामना हमें कहीं अपना ग्रास न बना ले"**? इस लोकैषणा से बचने का एक मात्र उपाय वही है जिसका संकेत सूत्र देते हुए हनुमानजी ने सुरसा से कहा कि :—

> **राम काजु करि फिरि मै आवौं।**
> **सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं॥**
> **तब तव बदन पैठिहउँ आई।**
> **सत्य कहउँ मोहि जान दे माई॥ ५।१।५**

उन्होंने कहा कि श्रीराम का दर्शन तो मैं कर ही चुका हूँ। परन्तु श्री सीताजी का दर्शन करना अभी शेष है। इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि पहले मैं जनकनन्दिनी का दर्शन करके उनका सन्देश प्रभु तक पहुँचा दूँ, उसके पश्चात् मैं स्वतः तुम्हारे मुँह में पैठ जाऊँगा। किन्तु हनुमानजी के वाक्य को सुन कर सुरसा सोचने लगी कि जब यह बन्दर ज्ञान और भक्ति दोनों में पूर्णता प्राप्त कर लेगा, तब तो मैं इसे खा ही नहीं सकती। इसका अभिप्राय है कि जिसने अपने जीवन में ज्ञान तथा भक्ति का साक्षात्कार कर लिया, शान्ति को पा लिया, फिर वह तृष्णा का ग्रास कैसे बनेगा? इसलिए सुरसा ने कहा कि मैं तो तुम्हें अभी खाऊँगी। तो हनुमानजी ने कहा कि यदि अभी खाना चाहती हो, तब तो मैं चुनौती देता हूँ, कि अगर तुम में शक्ति हो तो मुझे खा लो। उसके पश्चात् हनुमानजी को खाने के लिए सुरसा अपना मुँह फैलाती जाती है तथा हनुमानजी उससे दूने होते जाते हैं। किन्तु अचानक सुरसा ने सौ योजन का मुँह फैलाया और इसके पीछे उसकी धारणा यह थी कि अब यह बन्दर दो सौ योजन का बनेगा। इस प्रसङ्ग के पीछे गोस्वामीजी का तात्पर्य है कि लोकैषणा के साथ-साथ जब अभिमान भी सम्मिलित हो जाता है, तब तो होड़ लगी ही रहती है। तथा अन्त में व्यक्ति इस लोकैषणा का ग्रास बन ही जाता है। पर हनुमानजीकी विशेषता यह है

कि ज्यों ही सुरसा सौ योजन की बनी त्यों ही वे एक नया कार्य करते हैं। गोस्वामीजी स्पष्ट कह देते हैं कि :—

सत जोजन तेहि आनन कीन्हा।
अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा।। ५।१।१०

श्री हनुमानजी अत्यन्त छोटे बन कर सुरसा के मुँह में प्रविष्ट हो गए। और जब सुरसा चारों ओर आश्चर्यभरी दृष्टि से ढूँढ़ रही है कि यह बन्दर चला कहाँ गया? किन्तु जब उन्होंने सुरसा को व्याकुल देखा तो वे बाहर निकल आए, तथा सुरसा से आशीर्वाद माँगा। तब सुरसा ने प्रसन्न होकर कहा कि :—

राम काजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान। ५।२

अरे भाई! तुम अवश्य ही राम कार्य करोगे, क्योंकि इतनी अधिक सामर्थ्य होते हुए भी तुम्हें छोटा बनने की कला का ज्ञान है, इसलिए तुम्हें लोकैषणा नहीं खा सकती। इसका अभिप्राय है कि लोकैषणा के सामने जो केवल बड़ा बनना जाने, किन्तु छोटा बनना न जाने, वह तो सुरसा के द्वारा अवश्य ही खा लिया जाएगा। लेकिन हनुमानजी तो दोनों कलाओं में निष्णांत हैं। उनमें यदि एक ओर ज्ञान का बड़प्पन है, तो दूसरी ओर भक्त की विनम्रता भी है। इस प्रकार लोकैषणा को सन्तुष्ट करके हनुमानजी उसका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं।

आगे चलकर हनुमानजी को सिंहिका मिल गयी। यह सिंहिका ईर्ष्या की वृत्ति थी। इसका नियम था कि जिसको यह आकाश में उड़ते हुए देखती थी, उसकी छाया को पकड़ कर तत्काल नीचे गिरा देती थी। इस प्रकार यह आकाश में उड़ने वालों को ही खाती थी। और वही व्यवहार सिंहिका ने हनुमानजी महाराज के साथ भी किया।

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई।
करि माया नभ के खग गहई।।
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं।
जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं।।
गहइ छाहँ सक सो न उड़ाई।
एहि बिधि सदा गगनचर खाई।।
सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। ५।२।४

गोस्वामीजी से किसी जिज्ञासु ने प्रश्न कर दिया कि महाराज! यह सिंहिका जलचरों को क्यों नहीं खाती? केवल आकाश में उड़ने वालों को ही क्यों गिराती थी? तो उन्होंने उत्तर दिया कि भाई! ईर्ष्या का स्वभाव यही है कि उसे जो ऊँचा उठता हुआ दिखाई देता है, उसी को गिराने में

वह आनन्द का अनुभव करती है। बराबरी वाले को खाकर वह सन्तुष्ट नहीं होती। और यही स्वभाव सिंहिका का है। इसे दृष्टान्त के रूप में हम यों कह सकते हैं कि एक व्यक्ति को दौड़ते हुए देखकर दूसरे व्यक्ति के अन्तःकरण में यदि यह प्रेरणा प्राप्त हो कि हम भी दौड़कर उसकी बराबरी कर लें तब तक तो कोई बात नहीं, पर दूसरा व्यक्ति यदि यह सोचे कि इसके समान हम दौड़ तो पाएंगे नहीं, इसलिए इसकी टाँग पकड़ कर खींच लें जिससे कि इसकी भी गति अवरुद्ध हो जाए तो यह अवश्य चिन्ता का विषय है। गोस्वामीजी की भाषा में यही ईर्ष्या की वृत्ति है। और इस सिंहिका को देखकर हनुमानजी ने विचार किया कि समाज में लोकैषणा तो रहनी चाहिए, परन्तु ईर्ष्या नहीं। इसलिए इस सिंहिका (ईर्ष्या) को हनुमानजी ने मार डाला।

सिंहिका को मृत्यु का ग्रास बनाने के पश्चात् जब श्री हनुमानजी आगे बढ़े तो उन्हें लंकिनी मिल गई। तथा गोस्वामीजी इस लंकिनी को प्रवृत्ति का रूप मानते हैं। लेकिन इस "**प्रवृत्तिरूपा लंकिनी**" का उन्होंने वध तो नहीं किया, परन्तु उसे एक ऐसा मुक्का मारा कि जिससे उसके मुँह से काफी रक्त बह गया। हनुमानजी का अभिप्राय है कि भई! यह प्रवृत्ति जीवित तो रहे लेकिन इसका रक्त अवश्य कुछ कम हो जाए। इसीलिए जब हमलोग किसी महात्मा की प्रशंसा करते हैं तो यही शब्द कहते हैं कि यह तो बड़े "**विरक्त**" हैं, तथा विरक्त का अर्थ है जिसमें रक्त न हो। तब प्रश्न यह उठता है कि क्या विरक्त महात्मा के शरीर में रक्त नहीं होता है ? गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि मन का राग ही मानो रक्त है। और जिसके मन में राग कम है वही विरक्त है। इसका सरल सा तात्पर्य है कि प्रवृत्ति में रहते हुए भी हमारे अन्तःकरण में उसके प्रति राग न हो। इसीलिए हनुमानजी ने मुक्के के प्रहार से उसका राग रूपी रक्त कम कर दिया। और थोड़ा सा रक्त निकलते ही लंकिनी को एक नए सत्य का साक्षात्कार हुआ। गोस्वामीजी ने कहा कि जो लंकिनी ("प्रवृत्ति") यह समझती थी कि रावण को राजा मानना तो मेरा भ्रम था। हनुमानजी प्रश्न करते हैं कि अब तुम किसको राजा स्वीकार कर रही हो ? तो उसने उत्तर दिया कि :—

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा।
हृदयँ राखि कोसलपुर राजा॥ ५।४।१

उसने कहा कि मैं अब समझ गयी कि वास्तविक राजा तो श्रीराम ही हैं, और वे आपके हृदय में विराजमान हैं, इसलिए आप निश्चिन्त होकर लंका में प्रविष्ट हो जाइए। इस प्रकार श्री हनुमानजी इन समस्त विघ्नों को

पार करके उस संशय की वाटिका में पहुँच गए जहाँ पर श्री किशोरीजी राक्षसियों से घिरी हुई बैठी हैं। और अब उनके समक्ष सबसे कठिन कार्य है कि श्री सीताजी के अन्तःकरण का संशय कैसे दूर किया जाए। और संशय को विनष्ट करने के लिए हनुमानजी ने भगवत्कथा का आश्रय लिया। गोस्वामीजी संकेत करते हैं कि :—

रामचंद्र गुन बरनैं लागा। ५।१२।५

वे माँ को ऐसी कथा सुनाते हैं कि जिसे सुनकर उनका दुःख भाग गया।

सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥ ५।१२।५

किन्तु जब कथा सुनी तो जगज्जननी को इतना आनन्द आया कि अब उनके हृदय में कथावाचक को देखने की इच्छा हुई। तब श्री किशोरीजी ने कहा कि कथा तो बढ़िया थी, लेकिन कथावाचक भी तो जरा सामने आए।

श्रवनामृत जेहिं कथा सुनाई।
कही सो प्रगट होति किन भाई॥ ५।१२।७

परन्तु जब हनुमानजी सामने आ गए, तब माँ ने सबसे अनोखा कार्य यह किया कि वे उनकी ओर पीठ करके बठ गईं।

फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ॥ ५।१२।८

इसका तात्पर्य है कि जब कथा पर विश्वास हुआ तो कथावाचक पर संदेह हो गया। और उन्होंने संदेह के कारण कहा "**माँ**"! सबसे बड़ी समस्या यही है कि आपको तो प्रभु के बाण की महिमा याद है, परन्तु मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि आपकी स्मृति में भगवान श्री राघवेन्द्र अपने बाण की महिमा ही भूल गए हैं।

तुव वियोग सम्भव दारुण दुख़ बिसरि गई महिमा स्व बान की।
गीतावली ५।११

वे कहते हैं कि यदि भगवान श्री राघवेन्द्र को अपने बाण की महिमा का भान होता, तब तो आपको छुड़ाने में कोई विलम्ब था ही नहीं। श्री सीता तो इस उत्तर को सुनकर आश्चर्यचकित हो गईं और उन्होंने यही कहा कि हनुमान! पहले तो मैं तुमसे यही कहना चाहती थी कि तुम प्रभु को मेरी याद दिलाना, पर अब तो मुझे यही कहना पड़ेगा कि :—

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु।
बान प्रताप प्रभुहि समुझाएहु॥ ५।२६।५

अब तो तुम उनको बाण का ही प्रताप समझाना, मेरी स्मृति बिल्कुल न दिलाना। इस प्रकार उन्होंने, इस संशय को भी दूर कर दिया। किन्तु सन्देह दूर करते-करते अचानक हनुमानजी ने कहा माँ! घबराइए मत, आप कुछ दिन धैर्य धारण कीजिए, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, कि हम बन्दरों के

साथ भगवान श्री राघवेन्द्र आवेंगे और वे राक्षसों का बध करने के पश्चात् आपको छुड़ा कर ले जाएंगे।

कछुक दिवस जननी धरु धीरा।
कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा।।
निसिचर मारि तोहि लै जैहहि। ५।१५।१

किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि अभी तक सन्देह ने श्री सीताजी का साथ छोड़ा नहीं। और वे मन ही मन सोचने लगीं कि यह हनुमानजी से ही पूछ दिया कि :—

नर बानरहि संग कहु कैसें। ५।१२।११

हनुमान, जरा यह तो बताओ कि बन्दर और मनुष्य में मित्रता कैसे सम्भव हुई ? तब हनुमानजी ने विचार किया कि इनके अन्तःकरण में मेरे प्रति भी तो विश्वास होना चाहिए। क्योंकि वक्ता पर ही यदि व्यक्ति को अविश्वास होगा तब तो वह कथा के द्वारा प्रेरणा प्राप्त कर ही नहीं सकता है। तब उन्होंने समस्त कथा विदेहनन्दिनी को सुनाई। और कथा का लाभ भी प्रत्यक्ष दिखाई दिया। गोस्वामीजी ने संकेत किया कि माँ के मन में हनुमानजी के प्रति तो पूरी तरह विश्वास उत्पन्न हो गया।

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।। ५।१३

किन्तु अभी भी संशय का अन्त नहीं हुआ, अपितु अब तो इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। क्योंकि अभी तक तो उन्हें हनुमानजी के ऊपर ही सन्देह था, परन्तु अब तो श्री सीताजी को भगवान श्रीराम के स्वभाव पर ही सन्देह हो गया। और उन्होंने कहा कि हनुमान ! यह बताओ कि:—

कोमलचित कृपाल रघुराई।
कपि केहि हेतु धरी निठुराई।। ५।१३।४

श्री किशोरीजी ने कहा कि हमारे प्रभु तो बड़े कोमल स्वभाव के थे, पर लगता है, अब वे कठोर हो गए। उन्होंने मुझे भुला दिया है। श्री सीताजी का अभिप्राय था कि यदि सचमुच उन्हें मेरा स्मरण होता तो क्या वे मुझे छुड़ा कर नहीं ले जाते ? तथा मुझे छुड़ाने में प्रभु के सामने कोई समस्या भी नहीं थी। क्योंकि उनका बाण तो अमोघ है। किन्तु जनकनन्दिनी के इस उलाहना भरे प्रश्न का श्री हनुमानजी ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। बन्दर है तो अत्यन्त छोटा, लेकिन दावा यह कर रहा है कि हम लोग आकर आपको छुड़ाकर ले चलेंगे। तब जगज्जननी ने कहा कि :—

हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना।
जातुधान अति भट बलवाना।। ५।१५।६

श्री सीताजी ने कहा पुत्र ! क्या सब बन्दर तुम्हारी तरह ही हैं ? उनका तात्पर्य था कि अगर सब बन्दर इतने छोटे ही हैं तब फिर तुम लोग इतने विशालकाय राक्षसों पर कैसे विजय प्राप्त करोगे ? मेरे मन में तो बड़ा सन्देह है । माँ का शब्द यही है कि :—

मोरें हृदय परम संदेहा । ५।१५।७

हनुमानजी समझ गए, सचमुच माँ का संशय इतना विचित्र है कि यह एक स्थान से हटता है तो दूसरी जगह अटक जाता है । और तब हनुमानजी ने माँ के हृदय का सन्देह विनष्ट करने के लिए अपना विशाल रूप प्रगट किया ।

सुनि कपि प्रगट किन्ह निज देहा ।
कनक भूधराकार सरीरा ।
समर भयंकर अतिबल बीरा ।। ५।१५।८

उस रूप को देखकर श्री सीताजी के मन में विश्वास हो गया । "**सीता मन भरोस तब भयऊ**" तथा प्रसन्न होकर श्री सीताजी ने आशीर्वाद दे दिया :—

अजर अमर गुननिधि सुत होहू ।
करहुँ बहुत रघुनायक छोहू ।। ५।१६।३

किन्तु हनुमान जी ने सोचा कि माँ के हृदय में सन्देह कहीं छिपा हुआ तो नहीं रह गया है । इसलिए परीक्षा लेने के उद्देश्य से उन्होंने कहा कि माँ ! देखिए वृक्षों पर कितने सुन्दर फल लगे हुए हैं, यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इन्हें खा लूँ । किन्तु श्री सीताजी कहने लगीं कि मुझे तो डर लग रहा है, क्योंकि यहाँ पर तो राक्षस पहरा दे रहे हैं । और तब वे सोचने लगे कि इतना आशीर्वाद देने के बाद भी जगज्जननी के मन में डर बना हुआ है । इसका तात्पर्य यह है कि सन्देह अभी नष्ट नहीं हुआ है । तब हनुमानजी ने विचार किया कि जब तक इस संशय के बाग (अशोक वाटिका) को मैं उजाड़ नहीं डालूँगा, तब तक इनके अन्तःकरण का संशय पूरी तरह मिटेगा नहीं । यही विचार कर हनुमानजी ने इस संशय के बाग को उखाड़ दिया, दुर्गुण-दुर्विचारों पर प्रहार करके उन्हें विनष्ट कर दिया, तथा माँ का वात्सल्य प्राप्त करके हनुमानजी स्वयं तो कृतकृत्यता का अनुभव करते ही हैं, किन्तु जो पात्र श्री सीताजी तक स्वयं नहीं पहुंच पाते, उन्हें भी कथा सुनाकर वे उनके जीवन में धन्यता का संचार करते हैं ।

कथा के अन्त में पुनः एक बार आपको स्मरण दिला दूँ कि श्री सीता जी का अन्वेषण केवल त्रेतायुग का ही सत्य नहीं है, अपितु इस युग का भी सत्य है । हम और आप उन्हीं की खोज में तो लगे हुए हैं । कथा के माध्यम से भी उन्हीं की खोज की जा रही है, और मुझे विश्वास है कि भगवान श्री राघवेन्द्र अपनी कृपा के द्वारा हमें जगज्जननी श्री सीता के स्वरूप का साक्षात्कार अवश्य करावेंगे । इन शब्दों के साथ इस प्रसङ्ग को समाप्त करता हुआ मैं उन प्रभु के चरणों में प्रणाम निवेदन करता हूँ, जिन्होंने अपनी कृपा के द्वारा इस प्रकार की बातें आपके सामने कहलाईं, तथा प्रभु से यह प्रार्थना करता हूँ कि :—

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल ।
सो कृपालु मोहि तो पर सदा रहहु अनुकूल ।। ७।१२४(क)

बोलिए सियाबर रामचन्द्र की जय ।

देशालय, सूचना और प्रसारण
आकल्पित और प्रकाशित।
दिल्ली-110028
1,25,000 अप्रैल, 79

